Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

प्रधान–सम्पादक
यशदेव शल्य
मुकुंद लाठ

सम्पादक
अम्बिकादत्त शर्मा
प्रदीप कुमार खरे

उन्मीलन

मानसिक हिन्द स्वराज का वैतालिक दार्शनिक षाण्मासिक

वर्ष 32, अंक 1
जनवरी-जून, 2018

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

वर्ष 32, अंक 1 जनवरी–जून, 2018

उन्मीलन

मानसिक हिन्दस्वराज का वैतालिक
दार्शनिक षाण्मासिक

प्रधान–सम्पादक
यशदेव शल्य
मुकुन्द लाठ

सम्पादक
अम्बिकादत्त शर्मा
प्रदीप कुमार खरे

दर्शन प्रतिष्ठान
जयपुर

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

परामर्शदाता

1. रामजी सिंह, 104, सन्याल इन्क्लेव, बुद्धमार्ग, पटना–800001
2. अशोक वाजपेयी, सी–60, अनुपम को–ऑपरेटिव ग्रुप हाउसिंग सोसायटी, वसुन्धरा एन्क्लेव, दिल्ली–110096
3. रमेशचन्द्र शाह, एम. 4, निराला नगर, भदभदा रोड, भोपाल–462003
4. अशोक वोहरा, सी–748, विकासपुरी, नई दिल्ली–110018

प्रधान-सम्पादक

1. यशदेव शल्य, पी–51, मधुवन पश्चिम, किसान मार्ग, जयपुर–302015, दूरभाष 0141–2707493
2. मुकुन्द लाठ, ए 37/38, विश्वामित्र मार्ग, श्याम नगर, अजमेर रोड़, जयपुर–302019 दूरभाष 0141–2294727/2293725

सम्पादक

1. अम्बिकादत्त शर्मा, सी.–37, गौर नगर, विश्वविद्यालय परिसर, सागर–470003 दूरभाष 07582–264587 मो. 09406519498
2. प्रदीप कुमार खरे, आर.बी. 72, इण्डस गार्डन, गुलमोहर, भोपाल–462039, दूरभाष 0755–2427461, मो. 09425029308

ISSN 0974 0053
UNMEELAN (Refereed Journal)
Recognised by University Grant Commission, Journal Sr. No. 48083

वार्षिक शुल्क
व्यक्तिगत : रु. 100/–
संस्थाएं : रु. 200/–

आजीवन शुल्क
व्यक्तिगत : रु. 2000/–
संस्थाएं : रु. 5000/–

आजीवन/वार्षिक सदस्यता हेतु राशि "प्रधान–सम्पादक – उन्मीलन" के पक्ष में बैंक ड्राफ्ट (सागर, म.प्र. पर देय) निम्न पते पर भेजें – अम्बिकादत्त शर्मा, दर्शन विभाग, डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर–470003 (म.प्र.)

यशदेव शल्य, मुकुंद लाठ एवं अम्बिकादत्त शर्मा द्वारा दर्शन प्रतिष्ठान, पी–51 मधुवन पश्चिम, किसान मार्ग, जयपुर–302015 के लिए प्रकाशित।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अनुक्रमणिका

1. अद्वैत पद्धतिशास्त्र : मानवतावादी ज्ञान–विनिर्माण का पद्धतिमूलक विमर्श — 5
अम्बिकादत्त शर्मा एवं विश्वनाथ मिश्र

2. रमाकान्त त्रिपाठी का अद्वैत दर्शन–2 — 49
आनन्द मिश्र

3. प्रो. के.सी. भट्टाचार्य द्वारा कांट की पुस्तक संवेदनात्मक बुद्धि की परीक्षा पर किए गये टिप्पणियों का एक अनुशीलन — 83
अरविन्द कुमार राय

4. संक्लेशव्यवदानपरीक्षा — 120
मूल लेखक–आचार्य ज्ञानश्रीमित्र
हिन्दी रूपान्तरकार– बृजकिशोर त्रिपाठी

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

लाठ सर्वोदय ग्रंथमाला

1.	संगीत और चिन्तन (शंकर पुरस्कार से सम्मानित)	–	मुकुंद लाठ	100.00
2.	धर्म–संकट	–	मुकुंद लाठ	200.00
3.	कर्म–चेतना के आयाम	–	मुकुंद लाठ	250.00
4.	क्या है?क्या नहीं है?	–	मुकुंद लाठ	150.00
5.	मूल्यतत्त्व–मीमांसा (शंकर, मंगलाप्रसाद तथा मूर्त्तिदेवी पुरस्कारों से सम्मानित)	–	यशदेव शल्य	200.00
6.	चिद्विमर्श	–	यशदेव शल्य	175.00
7.	तत्त्व–चिन्तन	–	यशदेव शल्य	200.00
8.	चित् की आत्म–गवेषणा	–	यशदेव शल्य	250.00
9.	काव्य–विमर्श	–	यशदेव शल्य	250.00
10.	मुख्य भारतीय तथा पाश्चात्य दर्शन–धाराएं	–	यशदेव शल्य भगवती	150.00

11. *यशदेव शल्य की सभी मौलिक कृतियों का संग्रह अब 'यशदेव शल्य समग्र' शीर्षक से चार खण्डों में उपलब्ध है। प्रत्येक खण्ड का मूल्य 1,600/- तथा चारों खण्डों का मूल्य 6,400/- है। प्रकाशक :- डी.के. प्रिण्टवर्ल्ड (प्रा.) लि., वेदश्री, एफ- 395, सुदर्शन पार्क, नई दिल्ली-110015, दूरभाष 011-25453975*

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अद्वैत पद्धतिशास्त्र : मानवतावादी ज्ञान-विनिर्माण का पद्धतिमूलक विमर्श

अम्बिकादत्त शर्मा
विश्वनाथ मिश्र

किसी भी ग्रन्थ, समाज, संस्कृति और सभ्यता का अध्ययन कैसे किया जाय और इसके लिए किस प्रकार की अध्ययन पद्धति को अपनाया जाय, यह आज भी अकादमिक बहस का एक विशिष्ट क्षेत्र बना हुआ है। इस दिशा में पश्चिम में बुद्धिवाद, अनुभववाद, व्यवहारवाद, प्रत्यक्षवाद, संवृत्तिशास्त्र, उत्तर–आधुनिकतावाद, नारीवाद एवं द्वन्द्ववाद जैसी अनेक पद्धतियों का विकास हुआ है। इसी तरह परम्परागत भारतीय दार्शनिक साहित्य में भी पद्धतिशास्त्रीय दृष्टि से अनेक विधाओं के संदर्भ प्राप्त होते हैं। इन्हें अध्यारोप–अपवाद पद्धति (अद्वैत वेदान्त), प्रसंगापादन पद्धति (माध्यमिक बौद्ध), अमराविक्षेप पद्धति (संशयवादी), उद्देश्य–लक्षण–परीक्षा पद्धति (न्यायशास्त्र) और वाक्यार्थ–निर्णय पद्धति (मीमांसा दर्शन) के रुप में दर्शन सम्प्रदायों में मान्यता मिली है। पश्चिमी चिन्तन परम्परा में और तद्नुरूप भारतीय चिन्तन परम्परा में भी दार्शनिक संवर्गों का एक व्यापक समूह 'प्रत्यक्ष' को ज्ञान के सबसे प्रभावी स्रोत के रूप में मान्यता प्रदान करने हेतु व्यापक उपक्रम किया है। अरस्तू की त्रिपदीय तर्क प्रणाली और न्याय दर्शन की पंचपदीय तर्क प्रणाली इस तथ्य के प्रमाणभूत सन्दर्भ हैं। किन्तु, भारतीय तर्क प्रणाली में प्रत्यक्ष आधारित ज्ञान को बाधित करने वाले तत्त्वों की भी विशेष रूप से चर्चा हुई है। प्रत्यक्ष की विभिन्न परिभाषाओं (लक्षणों) और प्रत्यक्षाभास तथा भ्रम पर केन्द्रित व्यापक परिचर्चा के माध्यम से भारतीय दर्शन में प्रत्यक्षजन्य ज्ञान की कमियों को भी रेखांकित करने का प्रयास हुआ है। वस्तुतः बहुविध ख्याति–सिद्धान्तों के द्वारा भारतीय दर्शन में प्रत्यक्ष ज्ञान की सीमाओं का ही उल्लेख हुआ है। पश्चिम में भी अरस्तू के समय से ही प्रत्यक्ष ज्ञान की सीमाओं को समझने का उपक्रम होता रहा है। स्वयं उन्हीं के द्वारा प्रणीत सोद्देश्यता सिद्धान्त एवं कारणता सिद्धान्त के

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

आलोक में प्रत्यक्ष आधारित ज्ञान की मीमांसा करने से प्रत्यक्ष ज्ञान की सीमायें स्पष्ट हो जाती हैं।

अवधेय है कि ऐतिहासिक परिस्थितियों की विवशता ने भारत में पद्धतिशास्त्रीय मीमांसाओं को अद्वैत सिद्धान्त के प्रतिपादन के बाद या तो उसी के इर्द–गीर्द सीमित कर दिया या उसे समाज को समझने की भारतीय पद्धति के रूप में विकसित होने से रोक दिया। ठीक इसी प्रकार पश्चिम में अरस्तू के त्रिपदीय तर्क प्रणाली से प्रत्यक्षज्ञान की प्राप्ति तथा सोद्देश्यता एवं कारणता सिद्धान्त के समायोजन से विशुद्ध ज्ञान की प्राप्ति के प्रयास को स्टोइक एवं स्कॉलिस्टिक चिंतक आगे नहीं बढ़ा पाए। साम्राज्य के प्रति निष्ठा और विविधताओं के समायोजन का द्वैत इन चिंतकों को मानो किसी प्रेत की तरह ग्रस्त कर लिया।

आगे चलकर पाश्चात्य ज्ञानोदय ने भले ही ग्रीक चिन्तन से प्रेरणा ग्रहण किया हो, किन्तु नवोदित सामाजिक–आर्थिकी एवं राजनीतिक प्रेरणाओं ने पश्चिम के प्रभावी चिन्तन को प्रत्यक्ष आधारित ज्ञान की अनुभवमूलक पद्धतियों से जानने–समझने एवं जाँचने–परखने तक ही सीमित कर दिया। इस प्रवृत्ति ने यूरोप को भी उसकी जड़ों से काट डाला। साथ ही इस प्रवृत्ति से जिस इन्द्रिय संवेदी ज्ञान का विकास हुआ, उसमें प्रत्यक्ष एवं वर्तमान ही सर्वस्व था। इसने ज्ञान को भी कालिक, जातीय, वर्गीय एवं क्षेत्रीय बना डाला। इस प्रकार के आंशिक ज्ञान को संरचनावादी मान्यताओं एवं उपनिवेशवादी हितों के तहत कम से कम दो शताब्दियों तक सार्वभौमिक आग्रह से स्वीकार करने और स्वीकार करवाने का प्रयत्न सम्पूर्ण ग्लोब पर चलता रहा। स्वयं पश्चिम में ही तार्किक प्रत्यक्षवादियों एवं समालोचनात्मक सिद्धान्तकारों ने इस ज्ञान एवं पद्धतिशास्त्र के खोखले दावों को भी उजागर किया। हमारे आज के समय में स्वयं पश्चिमी सिद्धान्तकारों ने उत्तर संरचनावादी आग्रहों के साथ सम्पूर्ण आधुनिक पद्धतिशास्त्रों के ज्ञान के दावों को कटघरे में खड़ा कर दिया है। परन्तु ज्ञानमीमांसीय एवं तत्त्वमीमांसीय चिन्ताओं का निराकरण अभी भी निःशेष नहीं हुआ है। हमारे आज के युग की यह विचित्र विडंबना है कि हम ज्ञान के जातीय, क्षेत्रीय, कालिक आदि विभाजन को स्वीकार कर रहे हैं। यहाँ तक कि अब लिंगभेद जनित ज्ञान की भी चर्चा प्रबल हो उठी है। आश्चर्य की बात तो यह है कि ठीक इसी समय हम एकीकृत मानवता और एकल विश्व

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

की भी चर्चा कर रहे हैं। संरचनावाद द्वारा प्रेरित और आधुनिकतावाद द्वारा पोषित ज्ञान के बायनेरी स्वरूप की कमियों को हम स्वीकारते तो हैं पर ऐसी कोई पद्धतिशास्त्र विकसित करने का उपक्रम नहीं कर रहे हैं जो ज्ञान को बायनेरी जकड़न से मुक्त कर सके और एकीकृत मानवता के आदर्श को स्वीकार कर सके। इसका तात्पर्य यह भी नहीं है कि हम एकीकृत मानवता की ओर अग्रसर हो ही नहीं रहे हैं। देखने लायक बात तो यह है कि यह अग्रसरण तकनीकी एवं उपभोगजन्य एकरूपता के द्वारा उत्पन्न हो रही है। यह एकरूपता का एक प्रकार से आरोपण है। एक ऐसा आरोपण जिसमें अन्ततः मनुष्य और मशीन के बीच की दूरी धीरे–धीरे घटती जा रही है। यदि मनुष्य होने का आदर्श सार के पूर्व परिभाषित होने में नहीं है, तब मनुष्यता का स्वरूप आदिशंकराचार्य द्वारा वर्णित शिव महिम्नस्रोत में सबसे सटीक रूप में मिलता है और वह यह है कि 'रूचिर्नामवैचित्र्यं दृजुकुटिलनाना पथजुसां'। उत्तर–आधुनिक पद्धतिशास्त्री भी प्रकारान्तर से शंकर के इसी सूत्र को ज्ञान का आदर्श मानते हुये से प्रतीत होते हैं। किन्तु, इन पद्धतिशास्त्रियों ने जो ज्ञान जैसा है वैसा ही ठीक है कहकर अपने दायित्व की इतिश्री कर ली है। यह प्रयत्न ज्ञान के प्रामाण्य को वस्तु–संवादी होने मात्र में ढूँढना है। परन्तु, ज्ञान के प्रति ऐसी मान्यता शक्ति संदर्भों से जुड़ने पर विषय एवं विषयी को उसी स्तर पर बनाये रखने का समर्थन करती है जिस स्तर पर आज वह है। इस समर्थन से शक्ति संरचना की तात्कालिक वैश्विक परिदृश्य को वैधता ही प्राप्त होती है और इसकी परिणति भी मनुष्य और मशीन के बीच कम होती दूरी और उदारवादी पूँजीवाद का आपादमस्तक समर्थन ही है। विलियम ब्लेक के शब्दों में कहें तो यह भी 'सिंगलविजन'[1] आधारित ज्ञान है। इस ज्ञान के प्रति छटपटाहट एवं बेचैनी समसामयिक यूरोपीय चिन्तकों में भी दिखती है। माइकल सैंडल जब एकल प्रारूप में समस्याओं के समाधान की प्रवृत्ति वाले ज्ञान की आलोचना करते हैं तब उनकी पीड़ा का उद्गम स्थल ज्ञान की वही प्रवृत्ति है। वे बहुल प्रारूप में समस्याओं के समाधान करने वाले ज्ञान की प्रशंसा करते हुए उसके सूत्र को समुदाय एवं संस्कृति में खोजते हैं। पर स्वयं सैंडल का जो समाज एवं संस्कृति है वह तमाम विविधताओं को खो चुका है।

अतः इस सम्पूर्ण प्रकरण अथवा मानवतावादी ज्ञान के विनिर्माण की पद्धतिशास्त्रीय संकट पर एक वैकल्पिक दृष्टि से विचार किया जाना

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अपेक्षित प्रतीत होता है। एक ऐसी दृष्टि से जिसमें बहुलता को स्वीकार भी किया गया हो, जो बायनेरी दृष्टि से मुक्त भी हो और जिसमें मनुष्य के विकासमान चेतना के साथ ज्ञान के परिमार्जन की सम्भावनाओं को भी स्वीकार किया गया हो और साथ ही साथ उसके द्वारा एकीकृत मानवता के सर्वसमावेशी आदर्श को प्राप्त किया जाना सम्भव भी हो।

प्रायः हम अपने व्यावहारिक जीवन में स्वार्थ और परमार्थ का द्वैत पाते हैं। जानने (Knowing) चाहने–मानने (Willing) और महसूस करने (Feeling) में अन्तर समझते हैं। समय एवं अनुभव के साथ पुराने ज्ञान को नवीन करते हैं। उसमें परिमार्जन करते हैं और उसे बदल भी देते हैं। जिस ज्ञान से कल तक हमारी असहमति होती है उससे कल या परसों सहमत भी हो जाते हैं। हम प्रत्यक्ष और अनुभव आधारित ज्ञान की उपादेयता पर भी विचार करते हैं। आखिर तब हम ज्ञान के प्रति कोई जड़ धारणा या सिंगल विजन क्यों बना लेते हैं? वास्तव में ज्ञान के प्रति हमारी जड़ धारणा हमारे अज्ञान, अहंकार और वर्तमान के शक्ति संबंध से ही उपजती है। यह तथ्य सभी प्रकार के ज्ञान पर लागू होती है। इससे बचाव पूर्ण ज्ञान की प्राप्ति की सम्भावनाओं को नकारने में नहीं है जैसा कि आधुनिक पद्धतियों ने किया है। बल्कि इसके लिए कार्ल पॉपर की असत्यापनीयता सिद्धान्त एवं अद्वैत वेदान्त के पद्धतिशास्त्र का समायोजन करके एक नवीन पद्धतिशास्त्र तैयार करने की आवश्यकता है। प्रस्तुत आलेख में इसी उद्देश्य से अद्वैत पद्धतिशास्त्र की एक रूपरेखा समसामयिक सन्दर्भों के परिप्रेक्ष्य में तैयार करने का एक प्रयास किया गया है। यह मूलतः कार्ल पॉपर के फॉलसिफिकेशन एवं ब्रह्मसूत्र के प्रारम्भिक पाँच सूत्रों और उस पर शांकर भाष्य पर आधारित है।

फॉलसिफिकेशन के माध्यम से ज्ञान की परीक्षणीयता को बनाये रखते हुए उसे अतीन्द्रिय होने से बचाना है और ब्रह्मसूत्र के पाँच सूत्रों के माध्यम से ज्ञान की प्रत्येक विकासमान अवस्था को स्वीकार करते हुए पूर्ण ज्ञान की सम्भावना के आकाश को खुले रखना है। यह पद्धतिशास्त्र जिसे प्रस्तुत आलेख में अद्वैत पद्धतिशास्त्र के नाम से अभिहित किया गया है वह ज्ञान के विनिर्माण को व्यक्ति की मानसिक चयापचयी प्रणाली(मेंटल मेटाबोलिज्म) के माध्यम से समझने का प्रस्ताव करती है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

II
अथातो ब्रह्मजिज्ञासा

सामान्यतः आज हम जिन पद्धतिशास्त्रों से परिचित हैं उनका प्रारम्भ प्राक्कल्पना के निर्माण से होता है। प्राक्कल्पना एक भाषा आधारित असंदिग्ध एवं व्यवस्थित प्रतिज्ञप्ति होती है। ऐसी प्रतिज्ञप्ति जिसकी सत्यापनीयता एवं परीक्षण अभी शेष है। कार्ल पॉपर की विचार–पद्धति के ढाँचे में कहें तो प्राक्कल्पना को एक ऐसी भाषायी प्रतिज्ञप्ति होना आवश्यक है जिसकी असत्यापनीयता सम्भव हो।[2] परन्तु, प्राक्कल्पना के निर्माण का पात्र कौन है; यह आज के पद्धतिशास्त्रों की औपचारिक संरचना के बाहर का विषय है। यह एक ऐसा विषय है जिसे शोध संस्थायें शोध विषयों की वांछनीयता के अनुरूप निर्धारित करती हैं और इन वांछनीयताओं को शोधार्थी से उनकी शैक्षणिक अर्हता के रूप में अपेक्षा करती हैं। यह तो हुई नितान्त औपचारिक प्रकृति से ज्ञान प्राप्त करने की प्रविधियों की बात। परन्तु प्रायः ज्ञान की खोज एवं स्थापना में सतह के नीचे भी बहुत कुछ चलता रहता है, इस तथ्य की भी उपेक्षा नहीं की जा सकती है।[3] महायुद्धों के बाद समाज विज्ञान एवं मानविकी के अनुसन्धान में अकादमिक निष्ठा के साथ बाजार मैत्री का भाव संवलित नहीं हुआ है, इस तथ्य की भी उपेक्षा नहीं की जा सकती।[4] नितान्त औपचारिक प्रवृत्ति से ज्ञान प्राप्त करने की पद्धतियाँ अधिकांशतः आनुभविक, व्यवहारवादी एवं प्रत्यक्षवादी पद्धतिशास्त्रों के ही किसी न किसी प्रारूप को अपनाती हैं। दुनियाभर में स्वैच्छिक प्रवृत्ति के अध्ययनों में उक्त प्रविधियों का समावेशन कम ही होता है। यद्यपि यह कहने में कोई अतिशयोक्ति भी नहीं है कि दुनियाभर में मानविकी एवं समाज विज्ञानों में जिन कालजयी रचनाओं से हम परिचित हैं वे प्रायः किसी आनुभविक पर्यवेक्षण और प्रोजेक्ट के अंग नहीं रहे थे।[5] किन्तु हमारे युग की समस्या जो तथ्य बनती जा रही है वह है आनुभविक स्रोतों से कचरे की तरह फैलती हुई सूचनायें और इन्हीं सूचनाओं के नींव पर सैद्धान्तिकी को अवस्थित करने की प्रवृत्ति।

अब ज्ञान के निरूपण से सम्बन्धित उपर्युक्त समस्याओं को संकेतित करने के पश्चात् यह प्रस्तावित करना उचित होगा कि उन सभी समस्याओं का परिहार अद्वैत पद्धतिशास्त्र में सम्भव है। देखा जाय तो वादरायण के ब्रह्मसूत्र के प्रथम सूत्र 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' से ही ज्ञाता और

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

ज्ञेय के मध्य संबंध को स्पष्ट करते हुये अद्वैत पद्धतिशास्त्र की शुरुआत हो जाती है। विकारयुक्त चित्त निर्विकार ज्ञान का अधिष्ठान नहीं बन सकता है और निर्विकार चित्त में ज्ञान प्राप्ति की सेक्टेरियन प्रवृत्ति का वास नहीं हो सकता है। अद्वैत पद्धतिशास्त्र के इस प्रथम सूत्र में ब्रह्म (ज्ञान) को चतुष्कोटि विनिर्मुक्त ज्ञान के रूप में ग्रहण किया गया है। ऐसा ज्ञान जो देश, काल, लिंग और जाति इत्यादि अन्यान्य प्रकार के पूर्वाग्रहों से आच्छादित न हो। द्रष्टव्य है कि 'अथातो ब्रह्म जिज्ञासा' सूत्र में ब्रह्मज्ञान (चतुष्कोटि विनिर्मुक्त ज्ञान) प्रधान पद नहीं है। ब्रह्मज्ञान को प्रधान पद मान लेने पर ज्ञान का स्वरूप ज्ञाता से पूर्व सिद्ध हो जाता है और इससे ज्ञाता की स्वायत्तता न्यून हो जाती है। यदि ज्ञान को ज्ञाता से पूर्व मान लिया जाय तो उस ज्ञान की प्रवृत्ति विशिष्ट आग्रहों को जन्म देने वाला अधिष्ठान बन जाता है। इस अधिष्ठान से जगत् की उत्पत्ति और व्याख्या के लिए सर्वथा आरम्भिक तर्क वाक्य खोजने की प्रेरणा भी प्राप्त होती है। ऐसी ही प्रेरणाओं को एडार्नो ने उदारवादी एवं मार्क्सवादी चिन्तकों के एक विशेष समूह में देखा है और सर्वाधिकारवादी कहकर उनकी निंदा की है।[6] इस सूत्र पर शांकर भाष्य में 'अथ' पद 'तत्राशब्दः आनन्तर्यार्थः परिगृहयते' अर्थात् ब्रह्म जिज्ञासा यहाँ शब्दतः इच्छा, नाधिकारार्थक, होने से ब्रह्म और उसके ज्ञान दोनों से प्रधान है (स्वामी योगीन्द्रानन्द 2017 : 56)। प्रस्तुत विश्लेषण के आधार पर जिज्ञासा का प्रारम्भ इस सूत्र का प्राथमिक अभीष्ट है। यहाँ ज्ञान की इच्छा का प्रेरक अर्थ, पद, प्रतिष्ठा, जाति, धर्म या किसी शक्ति संरचना में सहभागिता अथवा किसी शक्ति संरचना का विध्वंस नहीं है।

अब भाष्यकार के समक्ष ब्रह्म जिज्ञासा के पात्र के चुनाव की बात सामने आती है। यह ज्ञान की ग्राह्यता के पात्रता निर्धारण की योजना है। पाश्चात्य पद्धतिशास्त्रों के अकादमिक अनुसन्धानों में भी इस हेतु मानक तय किए जाते हैं; जैसे किसी विशिष्ट ज्ञान की शाखा में स्नातक या परा–स्नातक डिग्री, इन डिग्रियों में कुछ निश्चित अंक प्रतिशित या ग्रेड। किसी विशिष्ट पात्रता परीक्षा में उत्तीर्ण होना इत्यादि। इन मानकीय प्रावधानों के बावजूद अध्येता के वैयक्तिक आग्रहों से शोध परिणामों के आच्छादित हो जाने की सम्भावना बनी ही रहती है। इस सम्भावना को दूर करने के लिए पाश्चात्य पद्धति शास्त्रों में अनुसन्धान की सम्पूर्ण रूपरेखा (रीसर्च डिजाइन) का प्रस्ताव अध्ययन के प्रारम्भ में ही प्रस्तुत करने और

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

प्रत्येक संभाव्य स्तर तक उस रीसर्च डिजाइन के अनुपालन की अपेक्षा अध्येता से की जाती है। अनुसंधान की यह अपेक्षायें ज्ञान में यथातथ्यता को बढ़ावा देते हैं। अद्वैत पद्धतिशास्त्र का इन अपेक्षाओं से अविरोध या कहें संवादी–संबंध है। परन्तु, यह पद्धतिशास्त्र अनुसंधेय विषय और अध्येता दोनों की व्यावहारिक सत्ता के साथ–साथ पारमार्थिक सत्ता (व्यावहारिक ज्ञान एवं पारमार्थिक ज्ञान) के स्वरूप के निवर्चन का प्रस्ताव भी करती है। अध्येता की अन्तश्चेतना पर संस्कारजन्य प्रभावों को जाँचने–परखने की कोई व्यवस्थित प्रणाली की सीमा में अध्येता की दक्षता को परखने के बजाय आख्यानों में इसकी विशद एवं अनेकशः चर्चा हुई है।[7] यदि ज्ञान–ग्राह्यता की सद्पात्रता के अत्यन्त विराट लक्षणों की उपेक्षा भी कर दी जाय[8] तब भी अद्वैत पद्धतिशास्त्र के द्वारा मात्र पद्धति के सैद्धान्तिक ढाँचे का प्रयोग करते हुए भी इसका सफलतापूर्वक प्रयोग किया जा सकता है। ज्ञान ग्रहण का यह सैद्धान्तिक ढाँचा अध्येता की जिन अर्हताओं पर आधारित है वह यह है– 'नित्यानित्य वस्तु विवेक, इहामुत्रार्थ फलभोग विराग, शमदमादि साधन सम्पत और मुमुक्षत्व। इन्हें साधन चतुष्टय भी कहते हैं।

नित्यानित्य वस्तु विवेक का आग्रह एक सीमा तक आधुनिक कही जाने वाली पद्धतिशास्त्रों में भी पाया जाता है। इनमें नित्यानित्य वस्तु विवेक के लक्ष्यार्थ की प्राप्ति के कुछ रणनीतिक साधन होते हैं। इसमें तीन तत्त्वों की प्रधानता देखी जा सकती है। प्रथम, मानवीय व्यवहार में नियमितता की खोज। द्वितीय, इस नियमितता का परिमाणीकरण और तृतीय, परिमाणीकृत नियमितताओं का पुनर्परीक्षण–योग्य भविष्य कथन का प्रतिपादन। यह नित्यानित्य वस्तुविवेक साधन के बतौर एक ऐसा मार्ग है, जिसमें चतुष्कोटि संयुक्त (विनिर्मुक्त नहीं) ज्ञान की प्राप्ति होती है। यथा जातिगत आग्रहों, लिंगभेदी आग्रहों या क्षेत्रीयता जनित आग्रहों का इनके घटक तत्त्वों से निष्पत्ति। अद्वैत पद्धतिशास्त्र में जाति, लिंग, स्थान, काल आदि तत्त्वों को असत्य या अवांछनीय कहकर निराकृत नहीं किया गया है। यह सब जागतिक व्यवहार के उपादान हैं। चेतना के अन्नमय, मनोमय कोश के धरातल पर उपादेय भी हैं। परन्तु, आनन्दमय और विज्ञानमय कोश पर प्रकट होने वाली चेतना में इनकी उपादयेता निःशेष हो जाती है। चतुष्कोटि संयुक्त ज्ञान में द्वैत रहता है और इस द्वैत से मानवतारूपी अद्वैतिक साध्य की साधना सम्भव नहीं है। अद्वैत पद्धतिशास्त्र के माध्यम से इस खाई को

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

पाटा जा सकता है। ऐसा भी नहीं है कि आधुनिक पद्धतिशास्त्रियों को इस न्यूनता का भान नहीं रहा है। उदाहरण के लिए जब डेविड ईस्टन व्यवहारवादी अनुसन्धान पद्धति की सीमाओं की मीमांसा करते हुए उत्तर–व्यवहारवादी अध्ययन पद्धति का विमर्श प्रस्तुत करते हैं तब उनके चिन्तन में अस्फुट रूप में उक्त चिन्ता प्रतिध्वनित होती है।[9] परन्तु ईस्टन के सम्पूर्ण प्रस्ताव की रूपरेखा आधुनिक सभ्यता के सिंगल विजन पर आधारित बायनेरी अभिव्यक्ति[10] के सेक्टेरियन नॉलेज के इर्द–गीर्द ही घुमते हुए निर्मूल हो जाती है।

ब्रह्मसूत्र सम्मत अध्ययन पद्धति में नित्यानित्य वस्तुविवेक का अनुप्रयोग पाश्चात्य पद्धतिशास्त्रों से व्यापक फलक पर हुआ है। नित्यानित्य वस्तुविवेक में यह दैहिक चेतना के साथ–साथ आत्मचेतन चेतना के धरातल पर भी विचार एवं विश्लेषण का प्रस्ताव है। इसकी मान्य प्रणाली में समस्त अनुभूयमान युष्मद् और अस्मद् प्रत्यय के विषयीभूत विषय और विषयी पदार्थों में जो ऋत, नित्य और सुख स्वरूप सिद्ध होता है वह नित्य और ऋत होने के कारण उपादेय है। इसी तरह जो अनित्य एवं तापत्रय से युक्त है वह आत्मचेतन चेतना के धरातल पर अन्यथा सिद्ध हो जाता है। प्रत्यक्ष, पर्यवेक्षण और अनुभव को मूल आधार बनाकर असंशायात्मक एवं प्रपंचरहित ज्ञान का प्रस्ताव करना सम्भव नहीं है। क्योंकि जो दृष्ट है वह संशयात्मकता से, इन्द्रिंयों का विषय होने से इन्द्रिय दोषों से युक्त है। ज्ञान की इस न्यूनता को दृष्ट पदार्थों के अन्वेषण में अनुभव और अदृष्ट पदार्थों के अन्वेषण में श्रुति एवं युक्ति का प्रयोग करके ही दूर किया जा सकता है। किन्तु, आधुनिक पाश्चात्य पद्धतियाँ दृष्ट पदार्थों के आनुभविक ज्ञान की प्रस्ताविका तो हैं परन्तु वे अदृष्ट पदार्थ की सत्ता को इन्द्रियानुभूति की पर्यवेक्षणीयता में समाविष्ट न हो सकने के कारण उसे अध्ययन से बहिष्कृत कर देती हैं। यह प्रवृत्ति आधुनिक पद्धतिशास्त्रों में सेकुलर विश्व–दृष्टि के बीज का वृक्ष रूप है। परिणामतः आधुनिक पद्धतिशास्त्र जिन विषयों का अध्ययन करते हैं उन विषयों के जितने अंश को अपने साँचे से पकड़ते हैं उससे बड़े अंश को वे छोड़ देने के लिए विवश हैं। इसके विपरीत ब्रह्मजिज्ञासा का सूत्र दृष्ट पदार्थों को प्रत्यक्ष और अनुभव के साथ–साथ उनके अदृष्ट पक्षों को श्रुति एवं युक्ति के द्वारा अपने अध्ययन का विषय बनाता है। फलतः यह कहना समीचीन होगा कि आधुनिक पाश्चात्य पद्धतिशास्त्रों में मानवता को अर्धांश

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

से भी कम में समझने वाला ज्ञान उपलब्ध है और उसे ही राजनीतिक–आर्थिकी के पाश्चात्य प्रभाव से पूर्णांश में स्वीकार कराये जाने की मुहिम चल रही है। इसके विपरीत अद्वैत पद्धतिशास्त्र में मानवता को पूर्णांश में समझने एवं व्याख्या करने की सम्भावना विद्यमान है और इसी से एकीकृत मानवता के ज्ञानात्क आदर्श को साकार किया जाना सम्भव है। साथ ही यह पद्धतिशास्त्र छद्म वस्तुनिष्ठता के आग्रहों से भी मुक्त है।[11] असंशायात्मक एवं प्रपंचरहित ज्ञान की आवश्यकता एकीकृत मानवता एवं एकीकृत विश्व के लिए अभीष्ट नहीं है, ऐसा कहना तो वदतोव्याघात (कन्ट्राडिक्शन इन टर्म्स) ही है। क्योंकि, स्वयं मानवता जब चतुष्कोटि विनिर्मुक्त अवधारणा है तब इस मानवता–अभिमुखी सभ्यता के निर्माण में कौन–सा ज्ञान बाधक है, इस तथ्य की भी समीक्षा आवश्यक है।

वस्तुतः आधुनिक पद्धतिशास्त्रों के द्वारा एकरूपता को आरोपित करने वाला ज्ञान मानवता का शत्रु है। पश्चिम में व्यक्तिवाद से मानवता की निष्पत्ति की गई और व्यक्ति को इन्द्रिय संवेदी, अ– ऐतिहासिक एवं अ–सामाजिक प्राणी की पृष्ठभूमि दी गई। इसकी चरम परिणति काण्ट के दर्शन में मिलती है। जहाँ वे 'सेल्फ इज प्रायर टू सोसाइटी' की स्थापना करते हैं। अब यदि सेल्फ वास्तव में सोसाइटी से पहले है और यह सेल्फ इन्द्रिय संवेदनाओं की ही भाषा समझता है तब वह इन्द्रिय संवेदनाओं की लिप्सा को पूरी करने के लिए अपने द्वारा बनाये गये शक्ति संबंधों को ध्वस्त किए बिना सभी मनुष्यों के एकत्व के उदात्त आदर्श को क्यों प्राप्त करना चाहेगा? इन्द्रिय संवेदी व्यक्ति से नैतिक अपेक्षायें किन तर्कों पर अवस्थित होंगी? प्रत्यक्षववाद और अनुभववाद इस प्रश्न का समाधान अब तक नहीं दे पाये हैं। या वह उत्तर जो उनके लिए प्राविधिक रूप से अपेक्षित है वह उन्हें हाब्स के तर्कों में ही मिल सकता है। वह उत्तर यह है कि नैतिक इच्छा या नैतिक आदर्श भय की एक अभिव्यक्ति है। नैतिक होना एक बाध्यता है। इसकी तर्क प्रणाली यह है कि हम आपको नुकसान नहीं पहुँचायेंगे और बदले में आप भी हमको नुकसान मत पहुँचाइये। इस पर होने वाली आपसी सहमति से ही नैतिकता के सूत्र निकल सकते हैं। परन्तु, प्रत्यक्षवाद और अनुभववाद को भी मानवता के लिए यह तर्क अभीष्ट नहीं हो सकता है। जबकि इन पद्धतियों ने जिस अतत्त्वशास्त्रीय उदारवाद और उपयोगितावाद से प्रेरणा ग्रहण किया है उसकी तार्किक परिणति इससे भिन्न नहीं है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

इसके विपरीत ब्रह्मजिज्ञासा सूत्र में जिज्ञासा की पहचान जिन इन्द्रिय संवेदी घटकों से होती है वे बहिष्कृत नहीं किये गये हैं। इसमें नानात्व से निर्मित कुल, गोत्र, जाति, परम्परा, संस्कृति, धर्म, देश और काल के द्वारा व्यक्ति की पहचान की गई है। साथ ही इनकी सत, रज एवं तम जनित उत्तम, मध्यम एवं निम्न कोटियाँ भी स्वीकृत की गई हैं। इसमें किसी अस्तित्व को नकारने की प्रवृत्ति नहीं है। इसी कारण ज्ञाता की भी अनेकानेक कोटियाँ स्वीकृत की गई हैं।[12] यही प्रत्येक समाज और सभ्यता की वास्तविकता भी होती है। परन्तु पश्चिम ने आधुनिक समय में आकर एक विशिष्ट ज्ञान के आलोक में अनुभव के विषयों को ज्ञान का विषय बनाया और इस ज्ञान से वास्तविक मनुष्य के बजाय काल्पनिक मनुष्य से मानवता का सूत्र निकाला। भले ही अनुभववाद अनुभव से और प्रत्यक्षवाद एक निश्चित पद्धति के प्रयोग से ज्ञान के उद्‌गम की बात करते हों पर वास्तविकता यह है कि वे एक पूर्वकल्पित ज्ञान के आलोक में ही ऐसा करते हैं। इसके विपरीत 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' में जिज्ञासा ही ज्ञान का पूर्ववर्ती है।

अद्वैत पद्धति जिज्ञासा के विषय को इन्द्रियों से ही गृहीत मानती है परन्तु, व्यक्ति की चेतना के भिन्न–भिन्न स्तर को भी स्वीकार करती है। साथ ही साथ यह भी प्रतिपादित करती है कि एक ही विषय की प्रतीति अलग–अलग चेतना के स्तर पर एक ही व्यक्ति में अलग–अलग होती है। इसी प्रकार अलग–अलग व्यक्ति जो चेतना के भिन्न–भिन्न स्तर पर होते हैं एक ही विषय को अपनी चेतना की प्रवृत्ति के अनुसार ही भिन्न–भिन्न प्रकार से ग्रहण करते हैं। यह वस्तुतः सर्वत्र प्रत्यक्ष, अनुभव एवं पर्यवेक्षण के द्वारा प्रमाणित किया जा सकता है। तथापि, पश्चिमी ज्ञान पद्धतियों ने इतने विस्तृत फलक पर विविधता को नहीं देखा। ब्रह्मजिज्ञासा सूत्र इन समस्त विविधताओं को मान्यता ही नहीं देता है अपितु यह भी स्वीकार करता है कि चेतना के विविध धरातल में नानात्व की जो प्रवृत्तियाँ होती हैं वह अनुभव एवं तर्क के साथ–साथ अपने को परिमार्जित भी करती हैं। परिमार्जन के इस क्रम में जैविक व्यक्ति सामाजिक व्यक्ति बनता है और इससे ऊपर की चेतना में वह मानव बनता है। औद्योगिक सभ्यता का ज्ञान जैविक व्यक्ति से सामाजिक व्यक्ति बने प्राणी से मानवता की अपेक्षा करता है जबकि ब्रह्मजिज्ञासा सूत्र अन्तःकरण की शुद्धि को प्रस्तावित करते हुए व्यक्ति के विशुद्ध सत्व में मानवता की प्रतिष्ठा का प्रस्ताव है।[13] यह चेतना की

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

व्यावहारिक सत्ता के स्तर से ऊपर उठकर पारमार्थिक सत्ता के स्तर पर भी विषय को देखने के लिए उत्क्रमित चेतना का आलम्बन है। वस्तुतः यह संयोग–पृथकत्वन्याय के द्वारा "विशुद्ध सत्वतस्तु तं पश्यति निष्कलं व्यायमानः" (मुण्डकोपनिषद् 3/1/8) में विश्वास करने वाली पद्धति है।

संशयात्मिका बुद्धि भी चेतना की ही एक अवस्था है। इस अवस्था में अध्येता निश्चयात्मक रूप से अभिकथन करने की अवस्था में नहीं होता है। निश्चयात्मक अभिकथन के लिए 'आरूरुक्षोमुनेर्योगं (श्रीमद् भगवत्गीता : 6/3) की अवस्था को प्राप्त करना आवश्यक है। इस अवस्था तक पहुँचने में स्वयं 'व्यवसायात्मिका बुद्धि' (श्रीमद् भगवत्गीता : 2/41) भी बाधक है। व्यवसायात्मिका बुद्धि अस्थिर चित्त और विषयों में ही निरन्तर उलझी रहने वाली चेतना है। इस स्तर पर जाति, लिंग, अर्थ, काल एवं क्षेत्र जनित विभेद शाश्वत प्रतीत होते हैं। पश्चिम के पद्धतिशास्त्र इसी स्तर पर दृश्यमान जगत् को सत्य घोषित करने वाले ज्ञान का निर्माण करते हैं। अद्वैत पद्धति इस ज्ञान को शाश्वत और सार्वभौमिक नहीं मानती है। अपितु इस ज्ञान को अन्यथा सिद्ध करने वाली चेतना के उच्चतर आयामों से निर्मित होने वाले ज्ञान के संसार में भी प्रविष्ट होती है। यह विषयों के सन्दर्भ में त्रिगुणात्मिका बुद्धि से ऊपर उठने की अवस्था है। इसी की अभिव्यक्ति गीता के निम्नलिखित श्लोक में हुई है

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान।।

श्रीमद् भगवत्गीता : 2/45

यह त्रिगुणात्मिका बुद्धि अध्येता को किस प्रकार विषयासक्त कर देती है और उसके क्या परिणाम होते हैं; इसकी चर्चा भी गीता में कृष्ण के मुख से हुई है जो अधोलिखित रूप में द्रष्टव्य है।

ध्यायतो विषयान्पुसः संगस्तेषूपजायते।
संगात्सञ्जायते कामः कामात्क्रोधोभिजायते।।
क्रोधाद्भवति सम्मोहः सम्मोहात्स्मृति विभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति।।

श्रीमद् भगवत्गीता : 2/62–63

मानवतावादी ज्ञान राग, द्वेष,मान, मोह, मद, मत्सर, क्रोध आदि इन्द्रियानुभविक तथ्यों को सत्य मानकर निर्मित नहीं हो सकता है। क्योंकि,

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

यह सब द्वैत की अभिव्यक्तियाँ हैं और स्वयं मानवता मनुष्यों में अद्वैत बोध की चेतना है।

उत्तर–आधुनिक चिन्तन के फूको सदृश उन्नायकों ने ज्ञान के आर्कियोलॉजी की चर्चा करते हुए इस तथ्य को दूर–दूर से पकड़ने की कोशिश करते प्रतीत होते हैं। किन्तु, वे चेतना के विभिन्न स्तरों पर दृश्यमान विषयों की स्थिति और उपलब्धि को सत्य या असत्य घोषित करने की प्रवृत्ति को शक्ति आधारित विशिष्ट ज्ञान का आरोपित ढाँचा समझते हैं। फूको की प्रतीति यह है कि जो जैसा है वैसा ही गृहीत होना चाहिए। सत्यता या असत्यता प्रमाणित करना शक्ति संबंधों का खेल है। फूको की पद्धति को देखें तो यह व्यावहारिक सत्ता पर अभिव्यक्त जाति, क्षेत्र, लिंग आधारित तथ्य या राग, द्वेष, मान, मद्, मोह, मत्सर जैसी प्रवृत्तियों में से किसी को भी उच्चतर या निम्नतर श्रेणी में वर्गीकृत करने का विरोध करता है। भले ही यह समानतावादी लोकतान्त्रिक आभासित होने वाला तर्क हो किन्तु अन्ततः यह जगत् आज जहाँ है, जैसा है उसे वहीं और वैसा ही बनाये रखने की ज्ञानमीमांसा का वाहक बन जाता है। परन्तु, यह जगत् आज जहाँ है और जैसा है उसमें मानवता नित कलंकित ही होती है और इसके बीज आज के उस ज्ञान में भी हैं जिसका एक बड़ा भाग मानवतावादी है ही नहीं।

इस प्रकार इस आलेख के इस परिच्छेद के सम्पूर्ण विश्लेषण का समाहार करते हुए अद्वैत पद्धतिशास्त्र के प्रथम सूत्र का निरूपण निम्नवत् हो सकता है।

अथातो ब्रह्म जिज्ञासा : (क) अध्येता का निरूपण (ख) प्राक्कल्पना के निर्माण में व्यावहारिक सत्ता के साथ–साथ परमार्थिक सत्ता के चरों का समावेश। इसके लिए बहुचरीय प्राक्कल्पना ही अभीष्ट है। (ग) दृष्ट पदार्थों का प्रत्यक्ष एवं अनुभव जन्य पर्यवेक्षण एवं अदृष्ट पदार्थों का श्रुति एवं तर्क द्वारा विश्लेषण किए जाने योग्य सत्यापनीय प्रतिज्ञा (प्रतिज्ञप्ति) के रूप में प्राक्कल्पना का प्रस्ताव। इसके लिये बहुचरीय असहयोगी प्राकल्पना अभीष्ट है।

III

जन्माद्यस्य यतः

किसी भी पद्धतिशास्त्र के अन्तर्गत प्राक्कल्पना निर्माण के अनन्तर अध्ययन के क्षेत्र एवं चर के निरूपण का चरण आता है। मनुष्य के कार्यव्यापार, ग्रन्थ का अर्थ या सभ्यताओं के प्रकट दृश्यमान स्वरूप में जो

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अर्थ और सन्दर्भ पकड़ में आते हैं उसके अतिरिक्त भी वह कुछ और है या नहीं, यह भी अध्येता के लिए जानना–समझना आवश्यक है। इस अपेक्षा की पूर्ति के बिना आधे–अधूरे ज्ञान को ही पूर्ण मान लेने के कारण उत्पन्न विसंगतियों से ज्ञान आच्छादित हो जाता है। ब्रह्मसूत्र के इस द्वितीय सूत्र में अध्ययन की इसी विसंगति के निवारण का प्रस्ताव है। भाष्यकार शंकर इस सूत्र की व्याख्या में कहते हैं कि 'ब्रह्म जिज्ञासितव्यमित्युक्तम, किं लक्षणं पुनस्तद ब्रह्म'। यहाँ ज्ञान की जिज्ञासा के द्वारा उसके अंगभूत प्रमाणादि की जिज्ञासा भी प्रतिज्ञात हो गयी है। 'किं लक्षणं' शब्द यहाँ आक्षेपार्थक है। आक्षेपार्थक का आशय यह है कि विश्व में जो भी वस्तु अनुभूत होती है वह परिमित, परिवर्तनशील और नश्वर है। मानवता का अधिष्ठान मानव भी परिमित, परिवर्तनशील और नश्वर है परन्तु मानवता नित्य, शुद्ध–बुद्ध, मुक्तस्वभाव और अनश्वर प्रतिज्ञप्ति है। इस अनश्वर और नित्य प्रतिज्ञप्ति का अधिष्ठान अनश्वर और नित्य ही होना चाहिए। 'नासतो विद्यते भावो नाभावोविद्यते सतः' की तर्क प्रणाली से इस शंका का परिहार सम्भव है। इन्द्रियानुभव से अनित्यत्व एवं नश्वरत्व का ही बोध सम्भव है। अतः मानवता को लक्ष्यार्थ करने वाले ज्ञान के अन्वेषण में दृश्यक्षेत्र एवं पर्यवेक्षणीय क्षेत्र के साथ–साथ अदृश्य अथवा इन्द्रिय–अगोचर का भी संधान आवश्यक है। पर यह संधान अंधेरे में तीर चलाने जैसा नहीं होना चाहिए। इसका समाधान शांकर भाष्य में 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति' (तैत्तिरीय उपनिषद : 3/1) के सूत्र से प्रस्तुत किया गया है। ज्ञानार्थ अन्वेषण के लिए इस सूत्र का अर्थ यह हुआ कि किसी ज्ञान की उत्पत्ति, उस ज्ञान का प्रभाव में बने रहना और उस ज्ञान के क्षय अर्थात् विलोम ज्ञान के कारणों को समझना। अतः अब 'जन्माद्यस्य यतः' के सम्पूर्ण पद पर पुनर्विचार कर लेना प्रासंगिक होगा। इस सूत्र में 'अस्य' पद के द्वारा प्रत्यक्षादि से अनुभूत जगत् के रूप–धर्म को ग्रहण किया गया है। 'अस्य' पद में षष्ठी विभक्ति जगत् के साथ ज्ञान के जन्मादि कारणों का प्रतिपादन करती है, जिससे जगत् या विषय के कार्यरूप स्वरूप प्रकट होते हैं। अस्य पद के पूर्व जो 'जन्मादि' पद है और जिसके अर्थ में उत्पत्ति, स्थिति और लय को सन्निहित माना गया है वह पश्चिमी पद्धतिशास्त्रियों के तर्कभाजन का शिकार हो सकता है। वे कह सकते हैं कि किसी ज्ञान की तीन ही व्यावहारिक निष्पत्तियाँ क्यों मानी जाय। क्यों इसमें ज्ञान की वृद्धि और

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

उसके परिणाम के उपादानों को छोड़ दिया जाय। इस शंका का समाधान यास्काचार्य के इस मत से किया गया है—अन्येषामपि भावविकाराणां त्रिष्वेवान्तर्भावः। इस सिद्धान्त से ज्ञानार्जन की प्रक्रिया की व्यावहारिक परिणति यह होती है कि यदि ज्ञान के अभ्युदय और उसके प्रारम्भिक स्वरूप में ही विसंगति रह गयी है तब यह विसंगति उस ज्ञान के अन्य प्रवर्द्धमान स्वरूपों में भी बची ही रहेगी।

यहाँ यास्काचार्य के मत का पाश्चात्य द्वन्द्वात्मक पद्धति की विवेचना से और भी अधिक स्पष्ट किया जाना सम्भव है। द्वन्द्वात्मक पद्धति में भी वाद की अवस्था में उपलब्ध ज्ञान विकार युक्त है और इसमें ज्ञान के अविकारी तत्त्व भी हैं। इनके मध्य संघर्ष (मार्क्सवादी पद्धति) या असत् का सत् से निराकरण (प्लेटो की पद्धति) के द्वारा विकारी एवं अविकारी तत्त्वों का 'तूल्यबल संतुलन' धीरे—धीरे विलुप्त होता जाता है और अविकारी ज्ञान का जो स्वरूप शेष बचता है वह प्रतिवाद के रूप में प्रकट होता है। किन्तु, प्रतिवाद की अवस्था में भी ज्ञान (प्लेटो के शब्दों में) या सामाजिक अवस्था (मार्क्स के शब्दों में) विकारों से पूर्णतः निःशेष नहीं हुआ है। अतः पुनः इस ज्ञान के परिमार्जन की यात्रा प्रारम्भ होती है और संवाद की अवस्था में पहुँचकर जो ज्ञान या समाजिक अवस्था प्रकट होता है वह विकार रहित है। इस सम्पूर्ण तर्क प्रणाली में बात तो वही हुई जो यास्काचार्य कह रहे हैं, अर्थात् वाद के दोष ही उसे संवाद तक अग्रसर कर रहे हैं और इसी अग्रसरणशील अवस्था में ज्ञान के विभिन्न प्रारूप और परिणाम प्रकट हो रहे हैं। अतः पाश्चात्य सैद्धान्तिकी की ओर से सम्भावित आक्षेप आधारहीन और मिथ्या आरोप ही सिद्ध होता है कि 'जन्माद्यस्य यतः' सूत्र में ज्ञान के प्रवर्द्धमान प्रारूपों एवं परिणामों का निषेध है। अपितु वास्तव में देखा जाय तो सिद्ध यह होता है कि आधे—अधूरे ज्ञान या सन्दर्भ की विसंगतियों को पहचानने हेतु अद्वैत पद्धति की योजना अत्यन्त व्यापक है। इसमें विकार युक्त ज्ञान के वृद्धि, परिणाम एवं अपक्षय नामक तीन अवस्थायें बतायी गयी हैं। इसमें भी भाव विकार की छः अवस्था है और परिणाम विकार के तीन प्रकार अलग—अलग बताये गये हैं।

वस्तुतः अद्वैत पद्धतिशास्त्र इस जगत् को सत् और असत् जैसे विपरीत ध्रुवों पर विभाजित करके समझने का प्रस्तावक नहीं है जैसी कि आधुनिक पाश्चात्य पद्धतिशास्त्रों की प्रवृत्ति है। यह जगत् को ब्लैक और

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

ह्वाईट में ही समझने की प्रवृत्ति का भी समर्थक नहीं है। इससे इतर वास्तविकता जबकि यह है कि जिस पाश्चात्य पद्धतिशास्त्रीय ज्ञान के आलोक में सनातन अद्वैत परम्परा के ऊपर यह आक्षेप लगाया जाता है कि इस परम्परा में आध्यात्मिक या पारमार्थिक ज्ञान के समक्ष लौकिक ज्ञान को निषिद्ध या अन्यथा साबित कर दिया गया है, वह स्वयं अनुभव की एक ही कोटि से जगत् की व्याख्या करता है। जबकि अद्वैत पद्धतिशास्त्र अनुभव की भी चार अवस्थाओं को मान्यता देता है और इन चारों के सन्दर्भ में जगत् पर विचार करता है। ये चार अवस्थायें हैं– जाग्रत, सुषुप्ता, स्वप्ना और तुरीया।

व्यवहार में हम यह देखते हैं कि हमारे पूर्ववर्ती अनुभवों से उत्पन्न ज्ञान का पश्चातवर्ती अनुभवों के द्वारा संपुष्टि भी होती है और उसका बाध भी होता है। ऐसी अवस्था में हम किस अनुभव से उत्पन्न ज्ञान को प्रामाण्य मान सकते हैं। पाश्चात्य पर्यवेक्षणीय पद्धतियों के पास इस प्रश्न का कोई तार्किक समाधान नहीं है। इसी कारण पर्यवेक्षण के प्रारूप में वे लिंग, जाति, आयु, क्षेत्र एवं काल आधारित पर्यवेक्षणीय तथ्यों के संकलन का सुझाव देते हैं, जिससे यह तो पता लग जाता है कि स्थिति विशेष या प्रश्न विशेष पर किस जाति, संवर्ग, आयु, लिंग या क्षेत्र का सूचनादाता क्या अभिमत रखता है। किन्तु, यह पता नहीं लग पाता कि उसी सूचना दाता के पश्चातवर्ती अनुभवों से उसके ज्ञान, पसंद या व्यवहार में किस तरह का परिवर्तन आया है। इस तरह के अध्ययन को समाज विज्ञान में 'फोकस ग्रुप आवजर्वेशन' कहा जाता है। यह उत्पादों के प्रयोग, उसकी व्यवहार्यता एवं बाजारी समीकरण को जानने तक तो ठीक है, परन्तु ऐसे अध्ययनों से मानवतावादी ज्ञान का सृजन एवं अनुरक्षण सम्भव नहीं है। इस तरह के अध्ययन में फोकस ग्रुप के उत्तरदाता पर्यवेक्षक को भ्रमित भी करते हैं। (डगलस रेसकॉफ : 2005)।

इसके विपरीत अद्वैत पद्धतिशास्त्र का द्वितीय सूत्र ज्ञान की उत्पत्ति, उसके प्रभाव में बने रहने और उसके बाध या निवृत्त हो जाने की सम्भावनाओं को भी जानने–समझने का प्रस्ताव करता है। इस पद्धति में अनुभव के जिन चार अवस्थाओं (जाग्रत, सुषुप्ता, स्वप्ना और तुरीया) का प्रयोग किया जाता है वह वास्तव में वैषयिक अनुभव को चेतना के विभिन्न स्तरों से जोड़कर समझने का प्रयास है। यहाँ प्रश्न किया जा सकता है कि क्या अद्वैत पद्धति की ज्ञानमीमांसा में चेतना के अध्ययन की कोई आनुभविक

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

विधि है और क्या उसका प्रयोग करते हुए अनुसन्धान में चरों का निर्माण सम्भव है। इस शंका का समाधान स्वयं ब्रह्मसूत्र में ही उपलब्ध है। जाग्रत अवस्था के अनुभवों को यदि समय, स्थान, गति, लिंग एवं जाति से रहित कर दिया जाय तो जो शेष बचता है वही उपाधि रहित चेतना है और उसे ही तुरीया अवस्था कहा गया है। पश्चिमी मन यहाँ आक्षेप लगा सकता है कि तब तो कुछ शेष रहेगा ही नहीं। इस स्थिति में न तो अध्ययन के विषय का भान होगा न ही अध्येता को स्वयं अपना भान शेष रहेगा। इसी कारण उक्त कथ्य के तथ्य को एक उदाहरण के माध्यम से समझाना श्रेयस्कर होगा। यहाँ काल, देश, जाति, गति एवं लिंग से अनुभव को रहित करने का तात्पर्य इन घटकों का निर्मूलीकरण नहीं है अपितु एक दूसरे के सायुज्य संबंध को बदलना है। उदाहरण के लिए अस्पृश्यता को धार्मिक मानने वाले व्यक्ति के द्वारा प्यासे मरने की अपेक्षा दलित जाति के व्यक्ति से जल ग्रहण कर लेना। जातिवादी राजनीति करने वाले के द्वारा गंभीर चिकित्सा की आवश्यकता पड़ने पर जातियेतर विशेषज्ञों की खोज करना। पुरूष की कठोरता एवं कर्कशता की विरोधी स्त्री के द्वारा अपने साथी से सुरक्षा संकट उत्पन्न होने पर कठोर एवं कर्कश व्यवहार की अपेक्षा करना। इन उदाहरणों में प्रायः स्थान, काल एवं जाति के सायुज्य संबंध बदलने से चेतना के दूसरे फलक को प्रकट होते हुए दिखाया गया है। अब इस तथ्य को चर निरूपण में किस प्रकार प्रयुक्त किया जा सकता है इस प्रश्न पर लौटकर आते हैं। यहाँ जो विचार प्रकट होता है वह यह है कि जाग्रतावस्था के अनुभव जब कर्म में परिणत नहीं होते हैं तब वे चेतना में असंगत स्वरूप के होते हैं। जहाँ जाग्रत अवस्था के अनुभव तुरीयावस्था के अनुभवों में अन्तर्विलयी संबंध को प्राप्त होते हैं वहीं वे कर्म में भी रूपान्तरित होते हैं। अतः चरों का निरूपण देश, काल, जाति, लिंग सापेक्ष और निरपेक्ष दोनों ही तरीके से अनुसंधान में करना उपादेय है।

पुनः यहाँ आक्षेप किया जा सकता है कि यह तो ज्ञान अर्जन की एवं अनुसन्धान की अत्यन्त क्लिष्ट प्रणाली हो जाएगी और इस कारण यह व्यावहारिक नहीं हो सकेगा। इस आक्षेप के निराकरण के लिए माइकल सैंडल की यह टिप्पणी सटीक है कि "हमारे व्यवहार एवं संस्थायें सिद्धान्तों के ही मूर्त रूप होते हैं। एक विशिष्ट प्रकार का व्यवहार करना वस्तुतः एक विशिष्ट सिद्धान्त से सम्बद्ध होना भी है (सैंडल 1984:81)। तात्पर्य यह कि

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

हम आज जिन अनुसंधान पद्धतियों का प्रयोग करते हैं वे कोई कम क्लिष्ट नहीं हैं; किन्तु स्वयं उनपर आक्षेप न करना उदारवादी सिद्धान्तों में अवस्थित रहना है जबकि इस सिद्धान्त द्वारा प्रवर्तित ज्ञान मानवता को विभाजित किये हुये है।

इस प्रकार इस आलेख के इस परिच्छेद के सम्पूर्ण विश्लेषण का समाहार करते हुए अद्वैत पद्धतिशास्त्र के द्वितीय सूत्र का समाहार निम्नवत् हो सकता है।

जन्माद्यस्य यतः (क) मत, ज्ञान या व्यवहार का जन्म, उसके प्रभाव में बने रहने तथा उसके बाध या तिरोहित हो जाने की स्थिति का अनुभव, तर्क और श्रुति द्वारा अध्ययन की योजना बनाना (ख) देश, काल, जाति, लिंग, सापेक्ष एवं निरपेक्ष चरों का अनुसंधान में प्रयोग करना ताकि वस्तुनिष्ठ और आत्मनिष्ठ दोनों ही प्रकार के तथ्यों का संकलन किया जा सके।

IV

शास्त्रयोनित्वात्

आधुनिक पद्धतिशास्त्रों में प्राक्कल्पना निर्माण, अध्ययन के क्षेत्र का चयन एवं चरों के उल्लेख के पश्चात् तथ्य संकलन का चरण आता है। तथ्य संकलन के लिए अनेक निदर्शन प्रणालियों में से किसी एक का चयन किया जाता है। निदर्शन की कोई भी प्रणाली विषय का सम्पूर्ण अंग न होकर उसका एक अंश होती है। महान मानवता के सम्पूर्ण पक्षों का नामरूप लक्षण और अन्वेषण सम्भव भी नहीं है। इस तथ्य को कुमारिल भट्ट भी स्वीकार करते हैं और कहते हैं कि 'सर्वथालक्षणं नामयद् व्यवच्छेदकारणम्' (योगीन्द्रानन्द 2017 : 109)। शबर स्वामी ने तो यहाँ तक कहा कि 'न शक्यं पृष्ठाकोठेन तत्र तत्रोपदेष्टुमिति लक्षण मुक्तम्' (योगिन्द्रानन्द 2017 : 109)। अर्थात् धरातल पर बिखरे हुए अनन्त लक्षणों की व्यावृत्ति और उन व्यावृत लक्षाणों का प्रत्येक व्यक्ति को झुक–झुककर देखने से संचयन सम्भव नहीं है। इसके विपरीत जो ब्रह्म (मानवता या शुद्ध ज्ञान) है वह 'महत ऋग्वेदादेः शास्त्रस्यानेकविद्यास्थानोपणम्हितवृं प्रदीपवत्सर्वार्थावद्योतिनः सर्वज्ञकल्पस्य योनिः कारणम्' है।

अब प्रश्न यह है कि इस महत मानवता का किस निदर्शन प्रणाली द्वारा अनुसन्धान किया जाय। यहीं पर कार्ल पॉपर के असत्यापनीयता के सिद्धान्त की आवश्यकता पड़ती है। परन्तु यह असत्यापन पर्यवेक्षण की

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

प्रणाली की अपेक्षा तर्क वाक्य के द्वारा किया जाना अद्वैत पद्धति के लिये अपेक्षित और श्रेयस्कर है। उदाहरण के लिए जाति मानवता का अंगभूत लक्षण है, सावयविक लक्षण नहीं है। अद्वैत वेदान्त की शब्दावली में कहें तो सावयविक लक्षण 'स्वरूप लक्षण' होता है जबकि आंगिक लक्षण 'तटस्थ लक्षण' होता है। मानवता का स्वरूप लक्षण ऐसा होना चाहिए जो सभी मनुष्यों पर समान रूप से लागू हो, जबकि जाति मानवता का तटस्थ लक्षण है जिसका सम्पूर्ण मानवता के सन्दर्भ में परिबाध हो जाता है। जिस प्रकार प्रस्तुत उदाहरण में स्वरूप लक्षण की स्थापना तटस्थ लक्षण के परिबाध अथवा असत्यापनीयता के द्वारा सिद्ध की गई है उसी प्रकार जब उपस्थित तथ्यों के विशिष्ट लक्षणों को असत्यापित सिद्धकर लिया जाता है तब जो सामान्य लक्षण शेष बचते हैं वही मानवतावादी ज्ञान के निर्मायक सूत्र होते हैं। ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य में भी 'जगजन्मादिकारणत्व' को ब्रह्म का तटस्थ लक्षण बताया गया है किन्तु ब्रह्म का स्वरूप लक्षण 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' उद्‌घोषित किया गया है।

इस प्रसंग को श्रीमद्‌भगवत्‌गीता के आख्यान के माध्यम से और भी सुगम तरीके से व्यक्त किया जा सकता है। गीता के प्रथम अध्याय में अर्जुन विहित कर्म न करने हेतु भी एक सिद्धान्त (ज्ञान) का प्रतिपादन कर रहे हैं। इसके लिए उनके द्वारा प्राक्कल्पना, चर और तर्कवाक्य प्रस्तुत किया गया है। अर्जुन की प्राक्कल्पना, चर और तर्कवाक्य आनुभविक और पर्यवेक्षणीय प्रकृति के हैं। यह वही अर्जुन हैं जो पूर्ववर्ती अनुभवों के जाग्रत प्रारूप में महिनों एवं वर्षों युद्ध की तैयारी करते रहे हैं। परन्तु, युद्धभूमि में पहुँचने पर जो प्रत्यक्षानुभूति उन्हें होती है उससे उनके पूर्ववर्ती अनुभवों का परिबाध हो जाता है और वे युद्ध के महापातक होने जैसी प्राक्कल्पना प्रस्तुत करते हैं। इसके लिए जिन चरों को वे अपनी वेदना को विश्लेषित करने हेतु प्रयुक्त करते हैं उसमें कुलधर्माः, कुलस्त्रियाः, वर्ण संकरत्व, राज्य लोभ आदि प्रमुख हैं।

कृष्ण ने अर्जुन के द्वारा चयनित चरों के द्वारा स्वयं उनकी ही प्राक्कल्पना को साबित करने में असमर्थ बताया है। तदन्तर कृष्ण ने भी एक प्राक्कल्पना प्रस्तुत की और उस प्राक्कल्पना को उन चरों के परिप्रेक्ष्य में भी व्याख्या की जो अर्जुन ने प्रस्तावित किए थे। साथ ही उन चरों के परिप्रेक्ष्य से भी प्रस्तुत विशय (समस्या) और विषय को समझाया जो अर्जुन की पकड़ से छूट गये थे। वस्तुतः सम्पूर्ण गीता के पाठ में देखें तो अर्जुन मनुष्य के

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

तटस्थ लक्षण को आधार मानकर अपनी प्राक्कल्पना प्रस्तुत करते हैं। यह तटस्थ लक्षण ही कुलधर्माः, कुलस्त्रियाः, वर्णसंकरत्त्व, स्वजनहन्ता के चरों द्वारा विश्लेषित होता है। जागृतावस्था के अनुभवों की यही तर्क प्रणाली होती है। यह भौतिकता एवं जड़त्व को सत्यापनीय मानता है। अवान्तर रूप से कहा जाय तो अर्जुन की प्राक्कल्पना एवं चर निरूपण की योजना पाश्चात्य पद्धतिशास्त्र के समतुल्य है। अर्जुन की तरह पाश्चात्य पद्धतिशास्त्र भी व्यक्ति को जाति, लिंग, क्षेत्र, भाषा, सम्प्रदाय आदि विशेषणों से युक्त मानकर उससे मानवता की अपेक्षा करते हैं जबकि ये सभी विशेषतायें मानवता के तटस्थ लक्षण अर्थात् उपाधियाँ हैं, उसके स्वरूप लक्षण नहीं।

श्रीकृष्ण की प्राक्कल्पना, इस प्राक्कल्पना के विश्लेषण हेतु लिये गये चर एवं तर्कवाक्य ज्ञान के अद्वैत परम्परा का उत्तम उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। कृष्ण ने अर्जुन से कहीं भी यह नहीं कहा कि हे! अर्जुन तुम झूठ बोल रहे हो या असत्य सम्भाषण कर रहे हो। हाँ, चिढ़ाते हुए से यह जरूर कहा कि – प्रज्ञावादांश्चभाषसे। ऐसा इसलिए कि कृष्ण जानते थे कि अर्जुन व्यक्ति या स्व के तटस्थ लक्षण की जाग्रतावस्था के अनुभव के भीतर जो कह रहा है वह असत्य नहीं है। किन्तु वह परिबाधित साबित हो जाएगा जब अर्जुन व्यक्ति या स्व के स्वरूप लक्षण के आधार पर प्राक्कल्पना को अवस्थित करके विचार करेगा। श्री कृष्ण ने इसी निमित्त व्यक्ति या स्व के स्वरूप लक्षण आधारित प्राक्कल्पना को प्रस्तुत किया और उसकी व्याख्या की। इस व्याख्या की परिणति अट्ठारहवें अध्याय में होती है जहाँ प्राक्कल्पना सिद्धान्त रूप में प्रतिष्ठित होती है। यहाँ श्री कृष्ण की अपरिमित संवादशीलता को देखा जा सकता है। वह यह कि कृष्ण ने जिस प्राक्कल्पना को व्यक्ति के स्वरूप लक्षण का ज्ञान कराने के लिए अर्जुन के सम्मुख रखा है उसका पुर्नप्रकटीकरण सिद्धान्त के रूप में स्वयं अर्जुन के मुख से ही होता है। वह सिद्धान्त यह है कि–

नष्टोमोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव।।

श्रीमद्भगवतगीता : 18:73

प्रस्तुत प्रसंग में पाश्चात्य ज्ञानमीमांसा की निष्पत्तियों से अधिशासित कुछ पद्धतिशास्त्रीय पर्यवेक्षणों का भी अन्वेषण कर लेना

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

समीचीन होगा। वस्तुतः 'शास्त्रयोनित्वात्' एक ऐसी ज्ञानमीमांसीय विश्लेषण पद्धति है जिसमें तटस्थ लक्षण एवं स्वरूप लक्षण दोनों के भेदाभेद को उजागर किया जाता है। पश्चिम की ज्ञानमीमांसीय दृष्टियाँ इस कार्य को दो अलग–अलग तरीके से सम्पन्न करती हैं। वे या तो पारमार्थिक सत्ता को ही प्लेटो की तरह सत् मानती हैं या उदारवाद–मार्क्सवाद की तरह व्यावहारिक सत्ता को ही सत् मानती हैं। ये दोनों ही अधूरे और आंशिक सत् का प्रतिपादन करते हैं। इस अधूरे एवं आंशिक सत् को जब राजनीतिक–आर्थिकी की ताकत के द्वारा प्रवर्तनीय बनाया जाता है तब विविधता का क्षय होता है और सर्वाधिकारवादी एवं संरक्षणवादी प्रवृत्तियों को किसी न किसी रूप में अक्षुण्ण बनाये रखने की लिप्सा को बल मिलता है। किन्तु, जिस ज्ञानमीमांसा के द्वारा शताब्दियों तक यह कार्य किया जाता रहा है और सम्पूर्ण ग्लोब पर उसी एक ज्ञानमीमांसा को प्रामाणिक ज्ञानमीमांसा के रूप में प्रतिष्ठित करने की होड़ मची रही है तब सर्वाधिकारवादी एवं संरक्षणवादी प्रवृत्तियों को भी स्वतंत्रता का प्रस्तावक माना जाने लगना स्वाभाविक ही है। इन प्रस्तावों की आलोचना में यदि कभी कुछ लिखा जाता है तब वे भी एकल सत्य की धारणा का खंडन करने के बजाय किसी अन्य एकल सत्य की ही स्थापना का प्रयत्न होता है। इस तथ्य को बेंथम एवं डर्वाकिन के लेखन के उदाहरण के द्वारा सरल तरीके से व्यक्त किया जा सकता है।

बेंथम की मान्यता है कि मनुष्य दुःख से निवृत्ति और सुख की इच्छा करने वाला प्राणी है। परन्तु, बेंथम यह बताने में असमर्थ हैं कि यह मनुष्य का तटस्थ लक्षण है या स्वरूप लक्षण। जब वे सुखों में गुणात्मकता का निषेध करते हैं और सभी सुखों को मात्रात्मक कहते हैं तब यह स्पष्ट हो जाता है कि वे मात्र भौतिक सुखों को ही सुख मान रहे हैं। अतः अद्वैत पद्धतिशास्त्र की भाषा में कहें तो सिर्फ और सिर्फ भौतिक सुखों की इच्छा करना मनुष्य का तटस्थ लक्षण है। आगे चलकर हमारे समकालीन विद्वान् डर्वाकिन ने एक तर्कवाक्य के माध्यम से बेंथम की धारणा का खंडन किया। वे कहते हैं कि यदि मनुष्य को दुःखों से निवृत्ति और सुख की इच्छा करने वाला प्राणी मान लिया जाय तब क्या लोग ऐसे किसी मशीन में बन्द रहना पसंद करेंगे, जिसके भीतर उन्हें दुःख से निवृत्ति एवं सुख की प्राप्ति हो। जाहिर सी बात है कि इस प्रश्न का सकारात्मक उत्तर सम्भव नहीं है। इस तर्क वाक्य के

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

प्रयोक्ता डर्वाकिर्न से यह अपेक्षा करना स्वाभाविक हो जाता है कि वे मनुष्य की किसी ऐसी संकल्पना का प्रतिपादन करेंगे, जिसमें मनुष्य के स्वरूप लक्षण के आधार को भी समाविष्ट किया गया हो। किन्तु, वे इस पक्ष की चर्चा की ओर उन्मुख भी नहीं हुए।

इसी तरह जॉन राल्स ने भी न्याय की समस्या को मनुष्यों के असमान पृष्ठभूमि में खोजा जिससे न्याय में जाति, लिंग, इतिहास, संस्कृति, विशेषाधिकार आदि की विभिन्नता से असमानता जनित दोष उत्पन्न होते हैं। रॉल्स से भी यह अपेक्षा की जा सकती है कि वे मनुष्य के इन तटस्थ लक्षणों की अपेक्षा उनके स्वरूप लक्षण को वरीयता देंगे। किन्तु, ऐसा न करते हुए उन्होंने मनुष्य के तटस्थ लक्षण को भी पृष्ठभूमि से हटाकर अपने न्याय सिद्धान्त का प्रवर्तन किया। उनका सम्पूर्ण प्रयत्न इसी कारण शल्य चिकित्सक का प्रयत्न बनकर रह जाता है, जिससे कम से कम सामाजिक रोगों का इलाज सम्भव नहीं है या यूँ कहें कि इस इलाज से समाज में एक अपंगता के स्थान पर दूसरी अपंगता की ही वृद्धि होती है।

अब प्रश्न यह उठता है कि शास्त्रयोनित्वात् के प्रतिपाद्य का प्रयोग करते हुए अध्ययन का प्रारम्भ कहाँ से किया जाय। क्या पोस्ट कोलोनियल पद्धतिशास्त्र के स्ट्रेटिजिकल लोकेशन मैथोलोडॉजी का प्रयोग करते हुए या उत्तर–आधुनिक विचारकों द्वारा प्रस्तावित पद्धति का प्रयोग करते हुए शास्त्रयोनित्वात् के लक्ष्यार्थों को प्राप्त नहीं किया जा सकता है? आखिरकार इन दोनों पद्धतियों में भी तो प्रकट सत्य या मत के इतर जो कुछ है उसे जानने समझने की कोशिश की गई है। वस्तुतः पोस्टकोलोनियल पद्धतिशास्त्र के स्ट्रेटिजिकल लोकेशन पद्धति के द्वारा, जिसका प्रयोग एडवर्ड सईद ने 'ओरियेन्टलिज्म' में किया है, इतिहास के एक बड़े फलक को समाविष्ट किया जा सकता है। साथ ही प्रकट सत्य या मत के इतर जो कुछ है, उसके एक बड़े भाग को अनावृत्त भी किया जा सकता है। किन्तु, इसमें भी जब पर्यवेक्षण के लिए मनुष्य के तटस्थ लक्षणों को आधार मानकर बनाये गये चरों के माध्यम से विश्लेषण किया जाता है तब जो तथ्य निकलकर सामने आते हैं उनमें प्रतिक्रियात्मक ज्ञान के लक्षण समाविष्ट हो जाते हैं। एडवर्ड सईद के ग्रन्थ ओरिएन्टलिज्म में भी यह दोष है। इस पद्धति का शास्त्रयोनित्वात् के प्रतिपाद्य के साथ समायोजन करते हुए एक दूसरी विधि से प्रयोग सम्भव है। इस विधि का प्रयोग स्वयं अम्बिकादत्त शर्मा

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

ने अपनी पुस्तक 'भारतीयता के सामासिक अर्थ–सन्दर्भ' में किया है। इस पुस्तक में भारतीयता के तटस्थ लक्षण को चतुष्कोटि प्रणालियों (देश, काल, जाति लिंग) में देखा गया है और भारतीयता के स्वरूप लक्षण को औचित्य या मूल्य प्रणाली में देखा गया है। मनुस्मृति के विचार संयोजन (संकलन नहीं) में भी 'शास्त्रयोनित्वात्' की पद्धति का उत्तम तरीके से प्रयोग किया गया है। इसमें मनुष्य के तटस्थ लक्षण से उद्भूत समस्त आचरण एवं उनके नियामक सूत्रों को ग्रहण किया गया है। साथ ही मनुष्य के स्वरूप लक्षण से उद्भूत समस्त आचरण एवं उनके नियामक सूत्र भी प्रस्तुत किए गए हैं। इस तथ्य को मनुस्मृति में इस प्रकार व्यक्त किया गया है।

देशधर्माञ्जातिधर्मान्कुलधर्मांश्च शाश्वतान्।
पाषण्डगणधर्मांश्च शास्त्रेस्मिननुक्तवान मनुः।।
मनुस्मृति : 1/118

मनु की इस सर्वोत्कृष्ट और आज के युग में प्रायः अनुपलब्ध अकादमिक इमानदारी और ग्रन्थ प्रवर्तन की अद्वैत परम्परा के विपरीत पाश्चात्य पद्धतिशास्त्रों के आलोक में जब मनु का अवलोकन किया जाता है तब उसकी आत्मघाती व्याख्या सामने आती है। निश्चय ही मानवता को निंदित करने वाले विधानों का उल्लेख मनुस्मृति में है परन्तु वे पाखण्ड धर्म या आचरण के नियामक तत्त्व हैं। यह मनुष्य के तटस्थ लक्षणों की निम्नतम (तमो गुण में भी निम्न) अभिव्यक्तियाँ हैं। परन्तु, यह शाश्वत धर्म नहीं है। शाश्वत धर्म मनुष्य के स्वरूप लक्षण को लक्ष्य करके निर्देशित किए जाते हैं। मनुस्मृति में मानवता की यशोगाथा को सर्वोच्च शिखर पर प्रकाशित करने वाले आचरण विधान इन्हीं सन्दर्भों से युक्त हैं। परन्तु, आज के तथाकथित व्याख्याकार सिंगल विजन के आलोक में ग्रन्थ को ग्रहण करते हैं। अकादमिक ईमानदारी को त्यागकर आजकल के तथाकथित विद्वान् जिस अंश का मनुस्मृति से उल्लेख कर रहे होते हैं उसके बारे में यह स्पष्ट किये बिना कि वह किस धर्म का तत्त्व है, आरोप–प्रत्यारोप में संलग्न हैं। यह प्रवृत्ति वस्तुनिष्ठता के पश्चिमी आग्रह की देन है जो कथ्य का अर्थ मात्र पर्यवेक्षणीय तथ्य में देखता है।

ज्ञान की वस्तुनिष्ठता और इसके आधुनिक प्रमाणभूत गुण–धर्मों का उत्तर–आधुनिक चिन्तन ने भी प्रतिवाद किया है। साथ ही इस प्रतिवाद को वैकल्पिक पद्धतिशास्त्रीय व्यवस्था के रूप में विकसित करने का भी

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

प्रयास किया गया है, जिसका मौलिक उद्‌देश्य पाठ के 'बिटविन दि लाइन्स' के अर्थ को उद्‌घाटित करना है। अन्तरपाठीयता, विखंडन, ज्ञान का पुरातत्त्व, ज्ञान की आनुवांशिकी एवं डिसकर्सिव फारमेशन आदि इस योजना के विभिन्न प्रारूप हैं। परन्तु, अध्ययन के इन प्रारूपों के प्रयोग से एक वस्तुनिष्ठता के स्थान पर दूसरी वस्तुनिष्ठता की स्थापना होती है। वस्तुतः आधुनिक पद्धतियों के प्रयोग से निर्मित ज्ञान यदि आत्मनिष्ठता के बहिष्करण की प्रणाली से उत्पन्न होता है तब वस्तुनिष्ठता के बहिष्करण से उत्पन्न होने वाला ज्ञान भी उसी प्रकार एकल प्रारूप का ज्ञान होगा जिस प्रकार वस्तुनिष्ठ ज्ञान है। जबकि, अद्वैत पद्धतिशास्त्र में आत्मनिष्ठ एवं वस्तुनिष्ठ दोनों ही प्रारूपों के ज्ञान को व्यक्त करने की व्यवस्था है। यदि जाति, लिंग, देश, काल के प्रभावों से मुक्त ज्ञान वस्तुनिष्ठ ज्ञान है और यह इस दृष्टि से आलोच्य है कि व्यक्ति को जाति, लिंग, देश, काल के परिप्रेक्ष्य से हटाकर बनने वाला ज्ञान शक्ति के एक प्रारूप का ज्ञान है। तब व्यक्ति को जाति, लिंग, देश, काल के प्रभावों में देखने से और इसी कारण ज्ञान को या सत्य को स्थानीय मानने का भी एक शक्ति समीकरण है। उत्तर–आधुनिक पद्धतिशास्त्र इन दोनों ही शक्ति संरचना से उत्पन्न ज्ञान को श्रेष्ठ या निम्न, सत् या असत् बताने की स्थिति में नहीं है। इसी कारण वे किसी भी प्रकार के शक्ति संबंध को वैध या अवैध साबित करने के प्रयास का ही विरोध करते हैं। परन्तु इससे जिस व्यावहारिक स्थिति की कल्पना की जा सकती है वह मनुष्य को पुनः प्राकृतिक अवस्था की स्वतंत्रता में बिल्कुल अकेला छोड़ देना है। इसके विपरीत अद्वैत पद्धतिशास्त्र मानवता के स्वरूप लक्षण पर आधारित ज्ञान के आलोक में तटस्थ लक्षण आधारित ज्ञान में परिमार्जन का प्रस्ताव करती है। यहाँ चूँकि स्वरूप लक्षण जाति, लिंग, काल, देश आदि पर आधारित नहीं है बल्कि सत्, चित एवं आनन्द पर आधारित है, इसी कारण स्वरूप लक्षण आधारित ज्ञान किसी जातीय या क्षेत्रीय शक्ति समीकरण को जन्म नहीं देते हैं।

यहाँ आक्षेप किया जा सकता है कि स्वरूप लक्षण तो अद्वैत वेदान्त की प्राक्कल्पना है तब क्या यह अद्वैतियों की शक्ति संरचना का समर्थन एवं न्याय, वैशेषिक, सांख्य आदि एवं प्रकारान्तर से दूसरी प्रणालियों के दमन का प्रस्ताव नहीं है ? इस आक्षेप के निराकरण के लिए तीन सन्दर्भों पर दृष्टिपात करना समीचीन होगा। प्रथम यह कि श्रीमद्‌भगवतगीता में श्री

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

कृष्ण ने कहा कि 'लोकेस्मिन द्विविधा निष्ठा पूरा प्रोक्ता मयानघ' और आगे चलकर सिद्ध किया कि वास्तव में यह दोनों ही निष्ठायें एक ही बात को कह रही हैं। द्वितीय यह कि स्वयं पश्चिम में भी प्लेटो के समय से ही मनुष्य के तटस्थ लक्षणाधारित ज्ञान से उत्पन्न होने वाली समस्याओं के विश्लेषण का प्रयास होता रहा है। आधुनिक युग में आकर इस प्रयास को लौकिकीकरण एवं सेक्युलरवाद ने एक विपरीत दिशा में मोड़ दिया। परिणामतः व्यक्ति का स्वरूप लक्षण इस लोक, लोक व्यवहार, लोक के ज्ञान एवं व्यवस्था की पकड़ से बहिष्कृत हो गया। तृतीय यह कि इस बहिष्करण को सामाजिक संविदा की तर्क प्रणाली और कार्टिजियन डिविजन के प्रभाव से ओझल किया गया और प्रत्यक्षवादी तथा अनुभववादी पद्धतियों ने तो इसे नष्ट ही कर डाला। शेष बच गया व्यक्ति का तटस्थ लक्षण, इससे जुड़ा ज्ञान एवं इससे जुड़ी व्यवस्था। किन्तु, अब विनष्ट को ओझल की सतह तक लाना, ओझल को बहिष्कृत की सतह तक लाना और फिर बहिष्कृत को समावेशित कर लेना अत्यन्त दुष्कर है। इस दुष्करता के कारण मार्क्स, सार्त्र, सिमोन, मारक्यूज, एरिकफ्राम, हन्ना आरेंट, ऑकशाट और सैंडल आदि अनेकानेक विचारक मनुष्य की पीड़ा को समझने के क्रम में उलझे हुए मनुष्य को टटोलते हुए से दिखाई पड़ते हैं।

इस आलेख के इस परिच्छेद के सम्पूर्ण विश्लेषण का समाहार करते हुए अद्वैत पद्धतिशास्त्र के तृतीय सूत्र का प्रस्ताव निम्नलिखित रूप से प्रतिपादित होता है। शास्त्रयोनित्वात् : (क) निदर्शन का चयन (ख) निदर्शन की योजना में विषय के तटस्थलक्षण एवं स्वरूप लक्षण का समावेश (ग) विषय की प्रकृति के अनुसार आनुभविक विधि के साथ–साथ तर्क वाक्यों द्वारा तथ्य संकलन।

V

तत्तुसमन्वयात्

पद्धति शास्त्रीय दृष्टि से प्राक्कल्पना निर्माण, अध्ययन के क्षेत्र का चुनाव, तथ्य संकलन एवं तथ्य संकलन के लिए निदर्शन की व्यवस्था के पश्चात् संग्रहीत तथ्यों के विश्लेषण का चरण सामने आता है। पश्चिम की प्रभावी ज्ञानमीमांसीय पद्धतियों (उदारवाद, मार्क्सवाद, उत्तर–आधुनिकतावाद) में तथ्य चेतन नहीं हैं और अध्येता की चेतना का स्रोत पदार्थेतर स्रोतों से विश्लेषणीय नहीं हैं (सेक्युलरवाद का प्रभाव)। ऐसी

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

स्थिति में उपलब्ध तथ्यों का विश्लेषण उक्त ज्ञानमीमांसीय संकल्पनाओं के द्वारा औपनिषद् शब्दावली में कहें तो पराङ्गमुख चेतना के द्वारा होता है। इन्द्रियानुभववाद चाहे वह उदारवादी ढाँचे में हो, मार्क्सवादी या उत्तर–आधुनिक ढाँचे में हो; इसी पराङ्मुखी चेतना से तथ्यों का विश्लेषण करती है। यह पराङ्मुखी चेतना वस्तुओं को जाति, लिंग, देश, काल के परिप्रेक्ष्य में ही समझती है और इन्द्रियानुभववाद भी विषयों को जाति, लिंग, देश एवं काल में ही ग्रहण करता है। वास्तव में सभी प्रकार के वैज्ञानिक पद्धतियों का सार भी यही है, अर्थात् विषयों को उसी रूप में व्यक्त करना जिस रूप में वे इन्द्रियानुभव के सम्पर्क में आते हैं। परन्तु, व्यक्ति विशेष के अनुभवों और फिर प्रकारान्तर से उसके ज्ञान की सीमा भी होती है । जबकि, कोई भी मानवीय व्यवहार व्यवस्था के एक सम्पूर्ण पर्यावरण की क्रिया–अनुक्रिया का परिणाम और परिणामी होता है।

इस समस्या के समाधान के लिए आधुनिक पश्चिम ने 'व्यवस्था सिद्धान्त' का विकास किया जिसके तीन प्रमुख पहलू हैं। प्रथम किसी घटना या व्यवहार को एक व्यवस्था (पर्यावरण) के ढाँचे में समझना। द्वितीय, चूँकि व्यवस्था या मानव के व्यवहार के प्रेरकों में अर्थ, मनोविज्ञान, राजनीति, संस्कृति, धर्म, आनुवांशिकी आदि अनेक परिवर्त्य होते हैं; अतः इन सभी प्रकार के ज्ञान का उपयोग करना। तृतीय, व्यवस्था सिद्धान्तकारों ने इस अपेक्षा की पूर्ति के लिए अन्तः अनुशासनीयता को बढ़ावा देने की माँग की। आज भी यह सिद्धान्त समाजवैज्ञानिक अध्ययनों का मान्य संदर्भ है। परन्तु, जो तथ्य एक मानवतावादी ज्ञान की स्थापना के लिए अपेक्षित है वह व्यवस्था सिद्धान्तकारों की पकड़ में आने से अभी भी छूटा हुआ है। व्यवस्था सिद्धान्तकारों ने विभिन्न अनुशासनों में विभक्त ज्ञान के एकीकरण की बात तो की परन्तु इस एकीकरण में वे पराङ्मुख चेतना से निर्मित ज्ञान को ही एकीकृत कर पाये। इस प्रयत्न के परिणाम स्वरूप पश्चिम में ज्ञान का ऐसा विस्फोट हुआ जिसमें वे यह समझ बैठे कि अब मनुष्य को या विषय को हर ओर से पकड़ लिया गया है। 'व्यवस्था सिद्धान्त' को समाज विज्ञानों में एक क्रान्ति की तरह देखा गया और यह विश्वास किया गया कि अब व्यवस्थाओं का निर्माण, उनका अस्तित्व में बने रहना, व्यवस्था में रूपान्तरण होना या उनका विनष्ट हो जाना कोई पहेली नहीं रह गयी है। अपितु इन सबका आनुभविक अध्ययन एवं भविष्य कथन सम्भव हो गया है। परन्तु आगे चलकर यह एक भ्रान्ति ही सिद्ध हुई।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

इसका एक कारण तो यह है कि 'व्यवस्था सिद्धान्त' ने ज्ञान के एकीकरण का जो प्रस्ताव किया उसमें वे पराङ्मुखी चेतना से निर्मित ज्ञान को ही ग्रहण कर पाये और प्रत्यङ्मुखी चेतना से निर्मित ज्ञान बहिष्कृत ही रह गया। प्रत्यङ्मुखी चेतना से निर्मित ज्ञान जाति, देश, काल एवं लिंग की सीमाओं का अतिक्रमण करती है। यह ज्ञान को मानवतावादी आधार प्रदान करती है और पराङ्मुखी चेतना के उपादानों से उत्पन्न शक्ति समीकरणों के दोषों को प्रदर्शित करने का आधार बनती है। द्रष्टव्य है कि ब्रह्मसूत्र का चतुर्थ सूत्र भी ज्ञान के एकीकरण का प्रस्ताव करता है। परन्तु यह ज्ञान के एकीकरण में पराङ्मुखी चेतना से निर्मित ज्ञान और पत्यङ्मुखी चेतना से निर्मित ज्ञान दोनों को ही समन्वित कर अपना पूर्वपक्ष बनाता है। इसी कारण भाष्यकार शंकर ने तत्तुसमन्वयात् सूत्र में 'कथ पुनर्ब्रह्मणःशास्त्रप्रमाणकत्व मुच्यतेयावता 'आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यतमतदर्शनम्' इति क्रियापरत्वं शास्त्रस्य प्रदर्शितम्' कहा। इससे मानवतावादी ज्ञान के लिए जो निष्पत्ति बनती है उसमें लोककर्म भी पूर्वपक्ष है और लोककर्मों के विधायक ज्ञान भी पूर्वपक्ष हैं। यदि लोक कर्मों से मानवता के प्रतिदर्श सिद्ध नहीं होते हैं तब उन लोक कर्मों की मानवता के प्रतिदर्शों से परस्पर अविनाभाव सिद्ध नहीं होता है। यही उन कर्मों के विधायक ज्ञान के साथ भी है। अब प्रश्न यह है कि वही मानवता मेरे कर्मों में है (तत्त्वमसि), मैं मानवता का प्रतिदर्श हूँ (अयं आत्मा ब्रह्म), मानवता पवित्र और विमल ज्ञान–स्वरूप है (प्रज्ञानं ब्रह्म) और अन्त में मैं भी ब्रह्म ही हूँ (अहम् ब्रह्मास्मि) का प्राक्ट्य कहाँ से हो सकता है।

भाष्यकार शंकर ने तत्तुसमन्वयात् के अनन्तर दो अन्य सूत्रों से इस शंका का निवारण किया है, जिनमें से प्रथम है **'सर्वत्र प्रसिद्धयाधिकरणम्'** और द्वितीय है **'सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशात्'**। अर्थात् सभी मनुष्यों में व्याप्य होते हुए भी जो व्यापक है वह मानवता है। **'सर्वे प्रत्यया: विषयी भवन्ति यस्य स आत्मा सर्वबोधान्प्रतिबोध्यते'**, यह 'प्रतिबोधविदितम्' का नियम है और इससे भी मानवता का प्रत्येक मनुष्य में प्रतिपादन होता है। वह सभी मनुष्यों में प्रतिष्ठित होने के कारण महत् है, तथा एक मनुष्य में भी प्रतिष्ठित होने के कारण अणु भी है।

अब यह मानवता जब अणु भी है और विभु भी (अणोरणियाण महतो महीयाण) है तब उस मनुष्य के अध्ययन के लिए बनायी गयी किसी भी योजना में इसका प्राक्ट्य भी तो होना ही चाहिए। कम से कम इस तर्क की

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

निष्पत्ति को तथ्यों के विश्लेषण के परिणाम में तो अवश्य ही प्रकट होना चाहिए। परन्तु, यथार्थ एकदम इसके विपरीत जैसा है। यदि श्रुतियाँ कहती हैं कि 'सर्वं खलु इदं ब्रह्म' तो प्रत्यक्ष–अनुमानादि सभी प्रमाणों और भूत, वर्तमान तथा भविष्य आदि समस्त (यच्चभूतं यच्च भाव्यम) सम्भावित ज्ञापकों से ब्रह्म की ही विज्ञप्ति होती है। वैसे ही जाति, लिंग, देश, काल आधारित परिर्वत्यों से भी मानवता की सिद्धि क्यों नहीं होती है। आखिरकार मनुष्य के रूप में एक व्यक्ति जाति, लिंग, भाषा, सम्प्रदाय इत्यादि से बोधक ज्ञप्तियों के साथ–साथ मानव भी तो है।

यहाँ प्रश्न उठता है कि क्या इसका कारण तथ्य संकलन एवं संकलित तथ्यों के विश्लेषण की अभियान्त्रिकी है या मनुष्य में मानवता है ही नहीं?

इस तथ्य को समझने के लिए ज्ञान–विनिर्माण की प्रणाली को समझना आवश्यक है। यहाँ विषय यह नहीं है कि ज्ञान का प्रादुर्भाव अनुभव से होता है या बुद्धि से। वस्तुतः ज्ञान–विनिर्माण की प्रणाली को जब हम ज्ञाता से पृथक् करके समझने का प्रयास करते हैं तब यह प्रश्न सामने आता है कि यह ज्ञान बुद्धि का उत्पाद है या अनुभव का। परन्तु, स्वयं ज्ञाता के लिए उसका ज्ञान मानसिक चयापचय प्रक्रिया (मेंटल मेटाबोलिस्टिक प्रासेस)[14] का परिणाम होता है। पुनः ज्ञान का उत्पन्न होना और इस ज्ञान का ज्ञान होना दो परस्पर अलग–अलग चयापचय की मानसिक अवस्थायें हैं। जिस प्रकार शारीरिक चयापचय प्रणाली का मुख्य उद्देश्य सावयव को आवश्यक ऊर्जा एवं शक्ति प्रदान करना और स्वयं अपनी भी रक्षा करना होता है उसी प्रकार ज्ञान की चयापचयी प्रणाली का मुख्य उद्देश्य सावयव को संज्ञान, अनुक्रिया, प्रबोधन, प्रतिक्रिया, स्मृति, तर्क, हर्ष, विषाद, प्रेम, घृणा, क्रोध, भय आदि के लिए अभिवृत्तियाँ प्रदान करना है। सामान्यतः अभिवृत्तियों को मानसिक चयापचय प्रणाली कहा जा सकता है। किन्तु, मनुष्य की पाचन संबंधी चयापचय प्रणाली और मानसिक चयापचय प्रणाली का एक दूसरे पर बहुत गहरा प्रभाव होता है। एक में आने वाला विकार दूसरे को और दूसरे में आने वाला विकार पहले को प्रभावित करता है।

जिस तरह ज्ञान–विनिर्माण की एक चयापचय प्रणाली व्यक्ति के भीतर कार्य रही होती है उसी तरह ज्ञान–निर्माण की एक चयापचयी प्रणाली का अस्तित्व समाज में भी होता है। समाज में चलने वाली ज्ञान–निर्माण की

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

चयापचयी प्रणाली से व्यक्ति अपने ज्ञान–निर्माण की चयापचयी प्रणाली को जितना स्वायत्त रख पाता है उतनी ही स्वतंत्र चेतना का वह स्वामी होता है। किन्तु, एक स्थिति और भी उत्पन्न होती है, जिसमें ज्ञान–निर्माण की समाज में चलने वाली चयापचयी प्रक्रिया को कोई विचारधारा या राजनीतिक–आर्थिक प्रणाली अपने कब्जे में ले लेती है, जिसके परिणाम स्वरूप समाज में ज्ञान–निर्माण की चयापचयी प्रणाली विकार ग्रस्त हो जाती है। इस विकार की अभिव्यक्ति ज्ञान में व्रात्यदोष के रूप में होती है। कालान्तर में जब इसी व्रात्यदोष से ज्ञान–विनिर्माण की व्यक्ति–आधारित चयापचयी प्रणाली आच्छादित हो जाती है तब व्रात्यदोष युक्त ज्ञान के आलोक में ही सम्पूर्ण सभ्यता अपना प्रतिबिम्ब देखती है और उसी को एकमात्र सत्य भी मानती है।

अब प्रसंगतः ब्रह्मसूत्रानुसारी ज्ञान–विनिर्माण की चयापचयी प्रणाली पर विचार कर प्रासंगिक होगा और फिर उस पक्ष पर विचार करना कि पश्चिम में ज्ञान–विनिर्माण की चयापचयी प्रणाली के विकृत होने का इतिहास किस प्रकार विकसित हुआ है। भगवान् श्री कृष्ण ने गीता में अर्जुन से कहा कि 'न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्र मिह विद्यते'। यह वही कृष्ण हैं जिन्हें अर्जुन ने अच्युत कहकर पुकारा है। अर्थात् जिनकी ज्ञान–निर्माण की चयापचयी प्रणाली कभी भी और कहीं से च्यूत नहीं हुई है। यही कृष्ण ज्ञान की चर्चा करते हुए अर्जुन को शारीरिक चयापचय प्रणाली को समुचित बनाये रखने के लिए अविकारी भोजन ग्रहण करने का सुझाव देते हैं और मानसिक चयापचयी प्रणाली को समुचित बनाये रखने के लिए योग का प्रवचन देते हैं। अद्वैत की भारतीय परम्परा में इसलिये ज्ञान को 'विमलोत्कर्षिनी' और 'सा विद्या या विमुक्तये' कहा गया है। वेदान्त की परम्परा में ज्ञान–विनिर्माण की चयापचयी प्रणाली में व्यवस्था या राजनीतिक शक्ति का हस्तक्षेप नहीं है। इसी कारण यह मोक्ष प्रवर्तिनी ज्ञान का प्रतिपादन करती है। यह मोक्ष प्रवर्तिनी ज्ञान ही है जो व्यक्ति और समाज दोनों के ज्ञान–विनिर्माण की चयापचयी प्रणाली को व्रात्यदोष से आच्छादित नहीं होने देती।

द्रष्टव्य है कि पश्चिम में अरस्तू के चिंतन से ही जहाँ ज्ञान–विनिर्माण की चयापचयी प्रणाली का सर्वप्रथम उल्लेख बीज रूप में मिलता है वहीं से यह संरक्षणवादी प्रवृत्ति भी धारण कर लेता है। उल्लेखनीय है कि

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अरस्तू ने सोदेश्यता सिद्धान्त का प्रवर्तन करते हुए जीव विज्ञान को एक पैराडाइम के रूप में स्वीकार किया है। अब यदि इस समीकरण को अरस्तू द्वारा ज्ञान को परिभाषित करने के सिद्धान्त (रिप्रजेन्टेशनल थ्योरी ऑफ माइन्ड) के साथ जोड़कर देखें तो ज्ञान–विनिर्माण की चयापचयी प्रणाली का एक प्रारंभिक प्रारूप तैयार होता है। उद्देश्य को निर्धारित करने में यदि जैविक क्रियायें भी सम्मिलित हैं तब यह मानना होगा कि मानवीय व्यवहार की उद्देश्यपरकता जैविक क्रियाओं के अंगभूत होते हुए भी उससे ऊपर एक चेतन अवस्था से नियंत्रित और निरूपित होने वाला तत्त्व है। परन्तु अरस्तू मनुष्य के साध्य को प्लटो के 'वर्ल्ड ऑफ आइडिया' से भिन्न अधिष्ठान में खोजने के प्रयास में मनुष्य के ज्ञान–विनिर्माण की सम्पूर्ण प्रक्रिया को जैविक क्रिया में ही सीमित कर देते हैं। इसीलिये अरस्तू के चिन्तन में मानवीय ज्ञान का आदर्श प्लेटो का 'नो दाई सेल्फ' नहीं रह जाता है।

अरस्तू के पश्चात् ज्ञान–विनिर्माण की चयापचयी प्रणाली की समझ हॉब्स में प्रस्फुटित होने के अवशेष मिलते हैं। वे विषयों को संवेदनाओं के तन्त्र में प्रविष्ट होने और उनके द्वारा चित्तवृत्तियों के उद्भव की चर्चा करते हैं। किन्तु, एक तो हॉब्स के चिंतन का प्रतिदर्श (पैराड़ाइम) भौतिक शास्त्र है और चेतना के गहरे स्तरों तक नहीं उतरना उनकी सैद्धान्तिक बाध्यता रही है। अतः इस विषय को वे अछूता ही छोड़ देते हैं। हॉब्स यदि ऐसा न करते तो उनके द्वारा मनुष्य को क्षुद्र घोषित करने का उपक्रम भी पूरा नहीं हो पाता। इसी कारण वे संवेदनाओं से उत्पन्न चित्तवृत्तियों अर्थात् संवेदनतंत्र की जैविकी के इर्द–गीर्द ही ज्ञान–निर्माण की चयापचयी प्रणाली को परिपूर्ण मान लेते हैं। इतना जरूर है कि हॉब्स के समक्ष ज्ञान को इस तरह से आधे–अधूरे और विकृत स्वरूप में स्वीकार कर लेने का कोई जातीय अहंकार नहीं था बल्कि एक प्रकार का भय था। यह वही भय है जिसकी अभिव्यक्ति लेवियाथन में 'मैं' और 'भय' को जुड़वां भाई कहते हुए की गई है। अरस्तू में ज्ञान–निर्माण की चयापचयी प्रणाली की व्याख्या करने की सम्पूर्ण सम्भावना थी किन्तु तब उन्हें यह भी मानना पड़ता कि ज्ञान–निर्माण की जो प्रक्रिया स्वामी के भीतर चल रही होती है वही दास में भी होती है। यह मान्यता उस अरस्तू के सम्पूर्ण सैद्धान्तिक महल को ढहा देती जिस अरस्तू को हम आज जानते हैं। इसी तरह जॉन लॉक अपने चिन्तन में चिकित्साशास्त्र को प्रतिदर्श (पैराडाइम) मानते हुए प्रतीत होते हैं। वे

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

आधुनिक अनुभववाद के जनक भी हैं। संवेदनाओं से ज्ञान–विनिर्माण की पद्धति को विकसित करने में उनका मूल्यवान योगदान भी रहा है। संवेदनाएँ और ज्ञान में उनके परिवर्तित होने के मध्य जो अन्तराल लॉक ने छोड़ दिया है यदि वे इसकी व्याख्या का उपक्रम करते तो वे भी ज्ञान–विनिर्माण की मानसिक चयापचयी प्रणाली के उन्नायक सकते हो थे। इस स्थिति में उन्हें प्राकृतिक विधि जैसे गैर आनुभविक प्रविधि की शरण में भी नहीं जाना पड़ता। परन्तु वास्तविकता तो यह है कि वे ऐसा करके प्राकृतिक अधिकारों की धारणा का प्रतिपादन नहीं कर पाते। फलतः उदीयमान पूँजीवाद के समर्थन में ज्ञान को प्रस्तावित करने का उनका उपक्रम भी पीछे छूट जाता। उपर्युक्त विवरण का आशय केवल यह दिखाना है कि पश्चिम में भी ज्ञान–विनिर्माण की एक चयापचयी प्रणाली के विकसित होने के बीज रहे हैं। परन्तु यह बीज शांकरवेदान्त की भारतीय परम्परा में निहित अद्वैत पद्धति की तरह पश्चिम में वृक्ष रूप धारण नहीं कर सका। क्योंकि, पश्चिम ने ज्ञान को बीच से ही पकड़ लिया और ज्ञान के अग्रिम और उच्चतर प्रारूपों को पारलौकिक कहकर खारिज कर दिया। फिर भी उनकी यह विशिष्टता रही कि भौतिकता को चेतना में रूपान्तरित होने से पूर्व ही जहाँ उन्होंने पकड़ लिया उसी के आधार पर समाज–दर्शन और राजनीतिक–आर्थिकी की स्थापना की। आधुनिक पश्चिम और उसकी सभ्यता ज्ञान–विनिर्माण के ऐसे ही आधे–अधूरे चयापचयी प्रणाली की परिणति है। इसीलिए सोरोकिन जब पश्चिमी सभ्यता को 'ऐन्द्रिक–सभ्यता' कहते हैं तो यह सर्वथा उचित ही है।

इतिहास में ऐसा भी होता है कि ज्ञान–निर्माण की सामाजिक चयापचयी प्रणाली जब विकृत हो रही हो तब व्यक्ति विशेष के द्वारा जो अपने स्वयं के ज्ञान–विनिर्माण की चयापचयी प्रणाली को जितना अछूता रख पाता है, उतना ही समाज को रास्ता दिखाने वाले ज्ञान का प्रवर्तन करता है। पश्चिम में यह सिसरो एवं स्कॉलिस्टिक चिंतकों के चिन्तन में परिलक्षित होता है। किन्तु, जब ज्ञान–निर्माण की सामाजिक चयापचयी प्रणाली विकार ग्रस्त हो जाती और उसी विकार के प्रभाव से इतिहास के किसी कालखंड में व्यक्ति विशेष या समूह उसी विकार युक्त ज्ञान को स्वकीय ज्ञान के चयापचयी प्रणाली में विवेक सम्मत मानकर ग्रन्थ का निर्माण करते हैं तब वे मानवता को विखंडित करने का कार्य करते हैं।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

द्रष्टव्य है कि समानता मानवता के लिए सबसे बड़ा आदर्श है किन्तु क्षुद्र मनुष्यों में समानता मानवता के लिए सबसे बड़ा धोखा भी है। इस धोखा को मैकियावेली, हॉब्स, बेंथम इत्यादि सबने पश्चिम में अग्रसारित किया है। इस तरह यह अत्यन्त ही स्पष्ट है कि पश्चिम में विचारकों के एक बड़े एवं प्रभावी समूह ने ज्ञान–निर्माण के स्वतंत्र एवं प्राकृतिक चयापचयी प्रणाली को विशिष्ट हितों के आलोक में ही समझा।

अब यहाँ ज्ञान–निर्माण की चयापचयी प्रणाली के स्वरूप को समझ लेना आवश्यक है और फिर इस प्रणाली की वेदान्तिक समझ को उद्घाटित करना समीचीन होगा। संवेदनाओं के रूप में इन्द्रियानुभव से ज्ञान नहीं बनता है। यह संवेदनायें जब मस्तिष्क की इलेक्ट्रोमैग्नेटिक केमिकल फिल्ड में पहुँचती हैं तब उनका भी ठीक वैसे ही अनेक रूपान्तरण होता है जैसे हमारे उदर में भोजन का होता है। इस प्रक्रिया में ही संज्ञान प्रत्यय के रूप में रूपान्तरित होते हैं। परन्तु, यह प्रत्यय भी ज्ञान नहीं है। इस प्रत्यय का अनुभव और स्मृति से जब अबाध संबंध बनता जाता है तब यह चेतना का संस्कार बन जाता है। वास्तव में यही संस्कारित चेतना ज्ञान है जो भाषा के माध्यम से अपने को सिद्धान्त के रूप में प्रकट करती है। यहाँ स्वयं भाषा जहाँ ज्ञान के प्रकटीकरण का एक माध्यम है वहीं ज्ञान की अभिव्यक्ति के लिए और ज्ञान के प्रवर्द्धन के लिए एक सीमा भी बन जाती है। इसका कारण यह है कि भाषा का निर्माण ज्ञान–निर्माण के सामाजिक चयापचयी प्रणाली के परिवेश में अधिक और व्यक्ति के ज्ञान–निर्माण के आभ्यन्तरिक चयापचयी प्रणाली में कम होता है। परन्तु, जो भाषा शब्द विन्यास के सामाजिक चयापचयी प्रणाली को उसके अर्थ विन्यास में जितना अधिक प्रकट कर पाती है वह भाषा व्यक्ति के आभ्यन्तरिक ज्ञान–निर्माण की चयापचयी प्रणाली को स्वायत्त रखने का उतना ही बड़ा आधार भी प्रस्तुत करती है। क्योंकि, इस प्रकार की भाषा में शब्द विन्यास और उसके इतिवृतात्मक अर्थ का संसार अधिक खुला रहता है। इस दृष्टि से संस्कृत भाषा का अतुलनीय और अद्वितीय महत्त्व है और इस दृष्टि से संस्कृत भाषा का मूल्यांकन किया जाना अभी शेष है।

अद्वैत पद्धतिशास्त्र और उसकी ज्ञानमीमांसा ज्ञान–विनिर्माण की स्वतंत्र एवं स्वायत्त मानसिक चयापचयी प्रणाली जो व्यक्ति में अधिष्ठित होती है और ज्ञान–निर्माण की सामाजिक चयापचयी प्रणाली दोनों का

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

विश्लेषण करती है। पश्चिम ने अपने प्रत्येक काल खण्ड में इस प्रणाली को किसी न किसी शक्ति समीकरण की आड़ में समझने का प्रयास किया है। इसी कारण वह मानव में ज्ञान के प्रकटीकरण को चेतना के संस्कारित स्वरूप के स्तर पर ही इसे पकड़ने की कोशिश की है। अब चूँकि व्यक्ति की संस्कारित चेतना के स्तर पर ही शक्ति समीकरण व्यवहार्य होते हैं, अतः इसी व्यवहार्यता को पश्चिम ने ज्ञान का प्रतिदर्श मान लिया। परन्तु, मानवतावादी ज्ञान का प्राकट्य ज्ञान–निर्माण की चयापचयी प्रणाली में इससे आगे की चरण में होता है। अद्वैत पद्धतिशास्त्र उसी ज्ञान को ज्ञान के विकास की सर्वोच्च अवस्था मानता है और उसी में मानवतावादी ज्ञान की प्रतिष्ठा होती है, जिसका विवेचन अद्वैत पद्धतिशास्त्र के अगले सूत्र में किया जायेगा।

इस आलेख के इस परिच्छेद के सम्पूर्ण विश्लेषण का समाहार करते हुए अद्वैत पद्धतिशास्त्र के चतुर्थ सूत्र का पद्धतिशास्त्रीय स्वरूप निम्नवत् है। तत्तुसमन्वयात् : (क) संकलित तथ्यों का ज्ञान–विनिर्माण की मानसिक चयापचयी प्रणाली में व्याख्या करने के लिए कम से कम तीन ज्ञानमीमांसाओं के द्वारा उनका विश्लेषण करना। (ख) इस विश्लेषण से प्राप्त अलग–अलग निष्कर्षों को रेखांकित करना। (ग) अलग–अलग प्रतिज्ञप्तियों से मानवता को पूर्व पक्ष बनाकर तर्क वाक्य द्वारा मानवता का संधान करना।

VI

सर्व वेदान्त प्रत्ययं चोदनाद्य विशेषात्

अनुसंधान के क्रम में यदि कम से कम तीन ज्ञानमीमांसाओं से संकलित तथ्यों का विश्लेषण किया जाय तब एक दूसरे से असंगत निष्कर्षों का प्राप्त होना स्वाभाविक ही है। तब इस असंगति का समाधान कैसे किया जा सकता है ? ऐसी ही अवस्था में आदर्शात्मक या मूल्यपरक कथनों का समावेश अध्ययन में हो जाता है। परन्तु, ऐसे मूल्य भी किसी न किसी शक्ति समीकरण के उत्पाद ही तो हो सकते हैं, इस तथ्य से इन्कार नहीं किया जा सकता है।

अद्वैत पद्धतिशास्त्र के प्रस्तुत सूत्र में इसी समस्या का समाधान प्रस्तुत किया गया है। वह समाधान यह है कि क्या जो विगत चरण तक ज्ञेय हो गया वही ध्येय भी है। भाष्यकार शंकर ने ब्रह्मसूत्र के प्रथम अध्याय के

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

प्रथम अधिकरण के चतुर्थसूत्र 'तत्तुसमन्वयात' का इस प्रस्तुत सूत्र के भाष्य में पुनः उल्लेख किया है। वे लिखते हैं कि– अविधिप्रधानैर्हि वस्तुपर्यवसायिभिर्ब्रह्म वाक्यैर्ब्रह्मविज्ञानं जन्यत इत्यवोचदाचार्यः तत्तुसमन्वयात्। इस सूत्र की भामती व्याख्या में उदाहरण देते हुए वाचस्पति मिश्र ने लिखा है कि एक ही व्यक्ति किसी के लिए आचार्य, किसी के लिए भाई, किसी के लिए पिता या पुत्र होता है जबकि वह यह सब होते हुए इससे इतर भी है।

ठीक इसी तरह संस्कारित चेतना के स्तर पर मनुष्य को जिस रूप में ग्रहण किया जाता है या ज्ञाता स्वयं जिस रूप में संस्कारित चेतना के स्तर पर अपने को ग्रहण करता है वह उसके अतिरिक्त भी कुछ है। व्यक्ति का 'यह कुछ' संस्कारित चेतना के अहं बोध के परित्याग से उत्पन्न होता है जो कि स्वयं पुनः ज्ञान–विनिर्माण की चयापचयी प्रणाली का ही परिणाम है। जिस प्रकार शरीर–क्रिया की जैविक चयापचयी प्रणाली भोज्य पदार्थ के कई प्रकार के अपशिष्टों को मल के रूप में बाहर करती है उसी प्रकार व्यक्ति–आधारित ज्ञान–निर्माण की मानसिक चयापचयी प्रणाली भी संवेदना के रूप में प्राप्त घटकों में से बहुत कुछ मल के रूप में बाहर निकालती है। परन्तु पश्चिम में इस तथ्य को कदाचित् जान–बूझकर ज्ञानमीमांसा का विषय बनने से छोड़ दिया गया। अद्वैत पद्धतिशास्त्र में ऐसे मलावरोधों की विस्तार से चर्चा हुई है। अहम् एक ऐसा ही मलावरोध है जो व्यक्ति के स्व को उसके वास्तविक स्वरूप में प्रतिष्ठित नहीं होने देता है। यह मलावरोध जब तक बना रहता है तब तक श्वेतकेतु 'श्वतेकेतु' ही बना रहता है और जब यह दूर हो जाता है तब श्वेतकेतु अपने वास्तविक स्वरूप अर्थात् 'ब्रह्म' (मानवता की आदर्शभूत अवस्था) में प्रतिष्ठित होता है (श्वेतकेतु तत्त्वमसि)।

अहं के स्तर पर ही जगत् के नानात्व सिद्ध होते हैं और व्यक्ति की समस्त अस्मिताओं का मूलस्त्रोत भी यही अहं है। पश्चिमी ज्ञानमीमांसाओं में यह अहं सम्पूर्ण उदारवाद में मनुष्य की मुख्य पहचान है। अहं की चेतना से ही मार्क्सवाद में वर्ग संघर्ष है और यह अहं की चेतना ही मानवता की शत्रु भी है। अहं की चेतना से ही आतंकवाद, भ्रष्टाचार, रंगभेद और लिंगभेद है और पर्यावरण के दोहन के पीछे भी यही अहंवाद है। अद्वैत पद्धतिशास्त्र व्यक्ति–आधारित ज्ञान–विनिर्माण की स्वायत्त एवं स्वतंत्र चयापचयी प्रणाली में इस अहं को मलावरोध के रूप में व्यक्त करता है और चेतना के विमल

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

स्वरूप अर्थात् शुद्ध–चैतन्य को देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि और अहंकार तथा नाम–रूप समस्त जागतिक उपाधियों से मुक्त स्वरूप में पहचान करता है। अतः मानवतावादी ज्ञान–विनिर्माण के लिए इस प्रणाली का उपयोग स्वयं मानवता की आदर्श प्रतिष्ठा और मानवता के कल्याण एवं उत्थान के लिए अपरिहार्य है। इसका सारभूत निष्कर्ष प्रस्तुत करते हुए कहा जा सकता है कि प्रत्येक सभ्यता और संस्कृति के निर्माण में ज्ञान–विनिर्माण की एक पद्धतिशास्त्र की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। ज्ञान के विनिर्माण की प्रक्रिया पराङ्मुखी और प्रत्यङ्मुखी चेतना के स्तर पर पूर्णता को प्राप्त होती है। अधिकांश पद्धतिशास्त्र जहाँ ज्ञान के विनिर्माण की प्रक्रिया को चेतना की पराङ्मुख अभिवृत्ति में ही पूर्ण मान लेते हैं वहीं अद्वैत पद्धतिशास्त्र ज्ञान के विनिर्माण को चेतना की प्रत्यङ्मुख अभिवृत्ति पर्यन्त विस्तारित करता है और उसी में मानवतावादी ज्ञान के आदर्श स्वरूप की प्रतिष्ठा देखता है। वैसी सभ्यता और संस्कृतियाँ जो पराङ्मुखी चेतना की सीमा में विनिर्मित ज्ञान से संचालित और नियंत्रित होती हैं उनके कालान्तर में विकारग्रस्त हो जाने और अन्ततः तिरोहित हो जाने की सम्भावना अधिक रहती है परन्तु वैसी सभ्यता और संस्कृतियाँ अपेक्षाकृत अधिक दार्घायु होती हैं और उन्हीं में मानवता के उदात्त स्वरूप का प्राकट्य सम्भव होता है जो प्रत्यङ्मुखी चेतना के आलोक में विनिर्मित ज्ञान से अपने को विनियोजित करती हैं।

दर्शन विभाग
डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय
सागर (म.प्र.) 470003
एवं
राजनीतिशास्त्र विभाग
आर्य महिला पीजी कॉलेज,
चेतगंज, वाराणसी (उ.प्र.) 221002

पाद टिप्पणी –

1. सिंगल विजन की अवधारणा का प्रयोग पाश्चात्य सभ्यता की व्याख्या के क्रम में प्रसिद्ध साहित्यकार विलियम ब्लेक (1975) ने किया है।
2. उल्लेखनीय है कि कार्ल पॉपर ने सत्यापनीयता के स्थान पर असत्यापनीयता की संभाव्यता वाली प्रतिज्ञप्तियों में वैज्ञानिक सिद्धान्त बनने

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

की सम्भावना को तलाशा है। अपने मत की पुष्टि के लिए वे भविष्यकथन (प्रिडिक्शन) एवं भविष्यवाणी (प्रोफेसी) में अन्तर करते हैं। पॉपर ने उन कथनों को भविष्यवाणी बताया है जिनमें दो तत्त्व समाविष्ट होते हैं। प्रथम, जब घटित होने वाली घटना में मानवीय हस्तक्षेप द्वारा कोई परिवर्तन सम्भव न हो। द्वितीय, जब कथित घटना के पर्यवेक्षण हेतु वैसी ही दूसरी इकाई उपलब्ध न हो। उदाहरण के लिए 13 जून 2068 को यह विश्व नष्ट हो जाएगा, एक भविष्यवाणी है क्योंकि पॉपर के अनुसार इस घटना के पर्यवेक्षण के लिए या इस कथन की असत्यापनीयता के लिए हमारे पास ऐसे ही दूसरे विश्व उपलब्ध नहीं हैं। इसके विपरीत कौआ काला होता है– यह एक ऐसी प्रतिज्ञप्ति है जिसकी असत्यापनीयता की सम्भावना हजारों, लाखों कौओं के पर्यवेक्षण में है। अतः प्रथम प्रतिज्ञप्ति भविष्यवाणी एवं द्वितीय प्रतिज्ञप्ति भविष्य कथन है।

3. प्रायः उत्पादों के बाजार–विस्तार के लिए होने वाले अनुसंधान में सतह के नीचे की किमियागीरी से हम सब अनभिज्ञ नहीं हैं। लाइफ साइन्सेस में इस तरह के कार्य–व्यापार से अकादमिक जगत् भी अछूता नहीं है। उदाहरण के लिए देखें, डी.बी. रेनसिक का लेख 'प्रेस्पेक्टिव : डिस्क्लोजिंग हिडेन सोर्स ऑफ फन्डिंग' जो एकेडमिक मेडिसिन : जर्नल ऑफ द एसोसिएशन ऑफ अमेरिकन मेडिकल कालेजेज में वर्ष 2009 सितम्बर में प्रकाशित हुआ था।

4. अकादमिक अनुसंधानों में जब कार्नेगी, रॉकफैलर, फोर्ड जैसी संस्थायें खर्च वहन करती हैं तब उनका उद्देश्य अपने व्यवसाय के लिए उपयुक्त विश्व के निर्माण हेतु उपादेय ज्ञान की खोज और प्रतिष्ठा दिलाना होता है। यह भी एक प्रमाणभूत तथ्य है कि उक्त संस्थाओं ने व्यवहारवादी अध्ययन पद्धतियों के विकास पर पानी की तरह पैसा बहाया है। इन पद्धतियों के मूल्य मुक्त ज्ञान से केन्द्र विहिन विश्व का निर्माण होता है। यह जगत् के निर्दैवीकरण के प्रोजेक्ट को पूरा करने वाले ज्ञान को ही प्रसारित करते हुए उसे एकमात्र ग्राह्य–ज्ञान के रूप में स्थापित करता है। ज्ञान के इस समीकरण पर लियो स्ट्रास ने एक गंभीर टिप्पणी की है। वे कहते हैं कि मनुष्य जीवन में सत्य की खोज करने के लिए जितना सार्थक प्रयास कर सकता है, उतना ही सार्थक प्रयास वह सुरक्षा आदि की खोज के लिए करता है। इस आधार पर व्यवहारवादी समाज वैज्ञानिकों एवं उनके समर्थकों पर

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

यह संदेह किया जा सकता है कि सामाजिक वैज्ञानिकों को अपनी सुरक्षा, आय तथा आराम के अलावा किसी अन्य बात की चिन्ता नहीं है। इस प्रकार सामाजिक वैज्ञानिक के रूप में वह अपनी क्षमता को उस व्यक्ति की सेवा में बेंच सकता है जो उसे अधिक से अधिक मूल्य चुकाने को तैयार हो' (लियो स्ट्रास 1959 : 20)।

5. ऐसा कहने का मेरा उद्देश्य आनुभविक शोधों एवं व्यवहारवादी अधिगमों की महत्ता को न्यून करना नहीं है। क्षेत्रीय, कालिक, जातिय, वर्गीय एवं साम्प्रदायिक समस्याओं के भौतिक आँकड़ों की प्राप्ति के लिए, किसी योजना के क्रियान्वयन का परिणाम जानने के लिए एवं संतोष या असंतोष के भौतिक उपादानों की खोज के लिए इन प्रविधियों का कोई दूसरा विकल्प हो भी नहीं सकता है।

6. एडार्नो का कहना है कि ज्ञानमीमांसा एवं तत्त्वमीमांसा के क्षेत्र में 'मूल आरम्भिक तर्क' खोजने की प्रवृत्ति खतरनाक है। यह प्रवृत्ति मनुष्य को जब अपने तर्कपाश में बांधती है तब उनकी विशिष्टताओं को तिरोहित कर देती है और एकरूपता को ही ग्रहण करती है। यह एकरूपता भी मनुष्य की जातिगत विशिष्टता का सार नहीं होता है अपितु यह 'मूल आरम्भिक तर्क' की तार्किकता के विचार की निष्पत्ति होती है। अन्ततः इस प्रवृत्ति का समाहार मनुष्य को जड़वस्तु बनाकर उसे समझने में होती है। (एडार्नो एवं होखाईमर : 2002)।

7. नचिकेता–यम संवाद ऐसे अनेक आख्यानों में से एक है। इस आख्यान में विशुद्ध ज्ञान प्राप्ति की जिज्ञासा को भौतिक प्रलोभनों के द्वारा विकृत कर देने का प्रयास हुआ है। जब यम ने यह पाया कि भौतिक लिप्सा की कामना से नचिकेता की ज्ञान प्राप्ति की जिज्ञासा निर्मूल नहीं हो सकती है, तब यम ने नचिकेता को चतुष्कोटि विनिर्मुक्त ज्ञान का सद्पात्र मानते हुए उन्हें वह ज्ञान (शिक्षा) दी।

8. यहाँ एक भ्रामक आरोप लगाया जा सकता है कि इस तरह के ज्ञान से हमें लाभ क्या होगा? हम जिन परिस्थितियों में रहते हैं वे तो किसी न किसी शक्ति संरचना, जाति, क्षेत्र, काल, धर्म, संस्कृति या राजनीतिक–आर्थिकी से ही निर्मित होती हैं। प्रथम दृष्टया यह आरोप बड़ा सबल जान पड़ता है किन्तु है निराधार। अद्वैत पद्धति इनमें से गृहीत किसी भी ज्ञान के व्यावहारिक पहलू की उपेक्षा नहीं करता है। अपितु साथ ही साथ यह भी

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

प्रस्तावित करता है कि यह व्यावहारिक एवं अनुभवमूलक निष्ठायें जिस ज्ञानराशि का सृजन करती हैं वह मानवता को विभाजित करने और रखने वाला ज्ञान है। एकीकृत मानवता एवं एकीकृत विश्व के लिए यह ज्ञान सर्वतोभावेन ग्राह्य नहीं है। स्वयं मानवता एवं एकीकृत विश्व की अवधारणा चतुष्कोटि विनिर्मुक्त ज्ञान की निर्मिति है जिसमें व्यावहारिक एवं परमार्थिक ज्ञान का संविलयन है। जाति, अर्थ, क्षेत्र, काल, शक्ति संरचना या राजनीतिक– आर्थिकी इत्यादि व्यवहारिक सत्तायें हैं। यह जैविक–व्यक्ति को सामाजिक–व्यक्ति बनाने के संवाहक हैं किन्तु इन संवाहकों को अतिक्रमित करके ही सामाजिक व्यक्ति समस्त विशिष्टताओं और उपाधियों से विनिर्मुक्त मानव बनता है। उपनिषद् ऋषि का यह उपदेश कि 'श्वेतकेतु तत्त्वमसि' अर्थात् हे! श्वेतकेतु तुम श्वेतकेतु नामधारी होते हुए भी उससे ऊपर 'ब्रह्म' हो तो इसका तात्पर्य यही है। इसके लिए पारमार्थिक सत्ता (मानव मात्र में अद्वैत) के बोध द्वारा व्यावहारिक सत्ताओं की उपाधियों अथात् तटस्थ लक्षणों का निवारण आवश्यक है। अद्वैत पद्धतिशास्त्र ज्ञान के उक्त दोनों ही स्वरूपों के संधान का प्रस्तावक है।

9. डेविड ईस्टन की चिन्ता यह रही है कि व्यवहारवादी अध्ययन पद्धति ने तथ्य एवं तकनीक पर जरूरत से अधिक ध्यान केन्द्रित कर दिया और सारवस्तु की अपेक्षा की। हिंसा की रोकथाम, असंतोष के कारणों की समझ और उसकी भविष्यकथन करने योग्य ज्ञान का सृजन व्यवहारवादियों ने नहीं किया। यह मानवता के रक्षार्थ अभिव्यक्त चिन्ता ही तो है। इस कमी को दूर करने के लिए उन्होंने दो सूत्रों का प्रतिपादन किया है। प्रथम, समाज वैज्ञानिकों की क्रिया–निष्ठा और द्वितीय शोध के विषय की प्रासंगिकता (डेविड ईस्टनः 1973)।

10. यह संरचनावाद की एक केन्द्रीय अवधारणा है। देखें, विश्वनाथ मिश्र (2013)।

11. आधुनिक पद्धतिशास्त्रों में वस्तुनिष्ठता को वैज्ञानिक ज्ञान की विशिष्टता बतायी गई है। वस्तुनिष्ठ ज्ञान में भी अप्रकटतः चतुष्कोटि विनिर्मुक्त ज्ञान होने की मान्यता निहित है। जिसे प्रायः अध्येता के पूर्वाग्रहों से मुक्त और किसी शक्ति संरचना से समर्थित या किसी शक्ति संरचना का समर्थन करने वाले ज्ञान से रहित होने की सम्भावना से युक्त बताया जाता है। परन्तु, यह वस्तुनिष्ठता वास्तविक होने के बजाय छद्म वस्तुनिष्ठता ही

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

है। यदि यह वस्तुनिष्ठ ज्ञान ही होता तो आखिर उदारवादी पद्धतिशास्त्रों की आलोचना में मार्क्सवादी पद्धतिशास्त्रों की उपादेयता का कोई औचित्य सिद्ध नहीं होता। इसी तरह उक्त दोनों ही पद्धतियाँ यदि यथार्थतः वस्तुनिष्ठ होतीं तो नारीवादी समीक्षकों द्वारा इन पर लिंगभेदी होने के आरोप को सिद्ध नहीं किया जा सकता था। वास्तव में उदारवादी पद्धतिशास्त्रों में जिस वस्तुनिष्ठता की बात होती है वह यथातथ्यवाद की ज्ञान की शक्ति सन्दर्भित परिणति है। ज्ञान का यह समाजशास्त्र वास्तव में ज्ञान के मानवतावादी समाजशास्त्र की अपेक्षा ज्ञान के फोर्डवादी समाजशास्त्र का अभिव्यक्त रूप है। इस तथ्य की ओर डेलेनरेली (2007), बेब नेये (2005) एवं जार्ज स्टेनमेट्ज (1994) जैसे विश्लेषकों ने भी ध्यान आकृष्ट किया है।

उक्त तथ्य को समझने के लिए प्रत्यक्षववाद के तीन प्रारूपों को समझना आवश्यक है। अपने प्रथम प्रारूप में यह अगस्त काम्टे एवं इमाइल दुर्खहाइम की रचनाओं में अभिव्यक्त हुआ है। यह सामाजिक उद्विकास के उस प्राक्कल्पना जो स्वयं आनुभविक या प्रत्यक्षवादी अध्ययन प्रणाली से संपुष्ट सिद्धान्त न होकर एक मान्यता पर आधारित है और जिसकी परिणति सामाजिक विकास क्रम में औद्योगिक समाज को अन्तिम एवं श्रेष्ठ बताना है। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि मार्क्सवादी पद्धतिशास्त्र भी काम्ट एवं दुर्खहाइम के इस पाश से मुक्त नहीं है। अपने द्वितीय प्रारूप में प्रत्यक्षवाद दर्शनशास्त्र के एक विशिष्ट विधा के रूप में उद्भूत होता है जिसे तार्किक प्रत्यक्षवाद की संज्ञा दी गई है। यह आनुभविक सत्यापनीयता को वस्तुनिष्ठ ज्ञान का परम आधार बताती है। अपने तृतीय प्रारूप में प्रत्यक्षवाद एक पद्धतिशास्त्र के रूप में प्रतिष्ठित होता है जिसमें प्रामाणिक ज्ञान के लिए पर्यवेक्षणीय तथ्यात्मकता और उसकी सांख्यिकीय प्रदर्शनीयता मौलिक तत्त्व बताये गये हैं।

वस्तुतः महायुद्ध के बाद और विगत शताब्दी में सातवें दशक तक पश्चिम में जिन पद्धतिशास्त्रों का वर्चस्व रहा है वह प्रत्यक्षवाद के उपर्युक्त प्रारूपों के मिश्रण से ही बने हैं । इन पद्धतिशास्त्रों ने व्यवहार्य ज्ञान को सबसे विशिष्ट ज्ञान के रूप में ग्रहण किया है। इसी अर्थ में जान डिवी कहते हैं कि 'नॉलेज इज दैट विच वर्क्स' और इसी परिप्रेक्ष्य में आज 'इन्नोवेटिव नॉलेज' की चर्चा होती है। यहाँ द्रष्टव्य यह है कि इस ज्ञान को एक पृष्ठभूमि

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

पहले से ही प्रदान कर दी गई है। यह पृष्ठभूमि पाश्चात्य ज्ञानोदय में मनुष्य की परिभाषा के द्वारा दी है। मनुष्य को अ–सामाजिक, अ–ऐतिहासिक, अहंवादी और शक्तिकामी बताने के ज्ञान में तत्कालीन नवोदित पूँजीवाद का हित साधन रहा है।

यही हित वह पृष्ठभूमि है जिसे आधुनिक पद्धतिशास्त्र अपने ज्ञान से सुदृढ़ करते रहे हैं। इसी कारण जान डिवी जिसे वर्केबल नॉलेज कहते हैं या जिसे आज इन्नोवेटिव नॉलेज कहा जाता है वह या तो औद्योगिक सभ्यता के नींव को मजबूत करता है, उसके पार्श्व प्रभावों को कम करता है या एक ऐसा भ्रम उत्पन्न करता है जिससे इस वर्तमान का स्याह पक्ष ओझल हो जाता है।

प्रत्यक्ष और पर्यवेक्षण तथा अनुभव का व्यापक पक्ष वर्तमान और भौतिकता तक सीमित होता है। वर्तमान का भौतिक सुख ही आधुनिक सभ्यता का मापदण्ड भी है। इस गठजोड़ के परिप्रेक्ष्य में आधुनिक पद्धतियों के द्वारा ज्ञान के जिस व्यवहार–सौकर्य और कार्यसंवादिता की चर्चा होती है वह वर्तमान का साधक है। औद्योगिक सभ्यता का यह वर्तमान उपभोगवाद, इन्द्रिय संवेदनाओं की तृप्ति और भौतिक सुख की लिप्सा को बढ़ावा दिए बिना अपने अस्तित्व की रक्षा नहीं कर सकता है। इसी कारण इस सभ्यता के पक्षधर और इसके सिद्धान्तकार अपनी सम्पूर्ण राजनीतिक–आर्थिकी के प्रभाव एवं शक्ति का प्रयोग करते हुए ज्ञान की दूसरी प्रणालियों की निरर्थकता एवं व्यवहार की असौकर्यता को सिद्ध करने में संलग्न रहे हैं। वास्तविकता आज यह है कि अधिकांश पश्चिमी ज्ञानमीमांसीय एवं तत्त्व मीमांसीय प्रणालियाँ अर्थ, यन्त्र एवं उद्योग की पथ प्रदर्शक होने के बजाय उसकी अनुगामिनी हैं।

यहाँ यह प्रश्न पूछा जाना समीचीन है कि आधुनिक सभ्यता के सामाजिक व्याकरण में सबसे प्रभावशाली अवधारणाओं यथा लोकतंत्र, सामाजिक न्याय, मानवतावाद, मानवाधिकार, विधि का शासन, विधि की सर्वोच्चता, विधि के समक्ष समानता एवं विधियों का समान संरक्षण, मानवीय गरिमा, मानवीय स्वतंत्रता आदि की प्रत्याक्षानुभूति या आनुभविक सत्यापन सम्भव है भी या नहीं? इस प्रश्न का सकारात्मक उत्तर सम्भव नहीं है। वास्तव में यह अवधारणायें युगों–युगों के बौद्धिक विमर्श और स्व की सीमाओं को अतिक्रमण कर जाने वाली विवेक की परिणितियाँ हैं। इन

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अवधारणाओं में व्यावहारिक सत्ता का परमार्थिक सत्ता के अन्तर्वलयन से परिमार्जन हुआ है। ऐसा परिमार्जन जिसमें व्यावहारिक सत्ता की मान्यतायें आन्तरालिक साबित हुई हैं, उस परमार्थिक सत्ता के परिप्रेक्ष्य में जिसे इस आलेख में मानवता कहा गया है। इन अवधारणाओं के निर्माण में प्रत्यक्ष एवं अनुभव से प्राप्त दृष्ट पदार्थों के प्रपंच को अदृष्ट पदार्थों की श्रुति–युक्ति सम्मत समझ के द्वारा निराकृत किया गया है। इस अर्थ में उक्त अवधारणाओं में अनुस्युत ज्ञान का निर्माण भी तो अद्वैत पद्धतिशास्त्र की प्रणाली से ही हुआ है भले ही प्रकट रूप से इसे व्यक्त या स्वीकार नहीं किया गया हो।

अब लौटकर आते हैं इन्हीं अवधारणाओं को प्रत्यक्षानुभूति या आनुभविक पर्यवेक्षण के द्वारा निष्पादित की जाने वाली प्रणालियों की कार्य प्रणाली पर। यथार्थ में इन अवधारणाओं को जिन घटकों द्वारा पर्यवेक्षणात्मक अध्ययन किया जाता है वे प्रक्षेपित घटक हैं और प्रत्यक्ष तथा अनुभव जनित ज्ञान की अपेक्षा अनुमान के द्वारा ही संवलेय हैं। उदाहरण के लिए लोकतंत्र को हम मतदान, दलीय प्रणाली, निर्वाचन की व्यवस्था, सरकार के उत्तरदायित्व इत्यादि में खोजते हैं। यह सब लोकतंत्र के विशिष्ट घटक हैं। विशिष्ट घंटकों से सामान्य का निर्देश आगमनात्मक पद्धति के द्वारा सम्भव है किन्तु इसके लिए भी विशिष्ट घटकों में पर्यवेक्षणीय एकरूपता अपेक्षित है। जैसे– मनुष्य मरणशील है– राम एक मनुष्य है– अतः रामं भी मरणशील हैं। इस आगमनात्मक तर्क वाक्य में मनुष्य जिस पर मरणशीलता आरोपित की गई है वह मनुष्य के रूप में सभी मनुष्यों में अनुस्युत है। जबकि लोकतंत्र को जिस मतदान प्रणाली, राजनीतिकदल, निर्वाचन आयोग, सरकार का उत्तरदायित्व आदि में देखा गया है वह एक दूसरे से इतने विच्छिन्न हैं कि यहाँ विशिष्ट से सामान्य का निर्देश अनुमान के बिना किसी अन्य साधन से साध्य नहीं है। यह ठीक वैसा ही प्रयास है जो रबर, पेंसिल, कागज, पेन आदि को स्टेशनरी कहने के ज्ञान में है। परन्तु, वस्तुओं के लिए समूह सूचक शब्द का प्रयोग करना एक बात है और संस्थाओं तथा उनकी कार्यप्रणालियों और उनके परिणामों (जो लोकतंत्र में है) के लिए समूह सूचक शब्द का प्रयोग एक दूसरी बात है।

12. उदाहरण के लिए मनुस्मृति में मनुष्य के वर्गीकरण के लिए जो निर्देश हैं उनका उल्लेख किया जा सकता है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

(क) सत्वं रजस्तमश्चैव त्रिन विद्यात्मनोगुणान् ।
यै व्याप्ये मान्स्थितो भावान्महान सर्वानशेषतः ।।

मनुस्मृति : 12/24

(ख) त्रिविधा त्रिविधैषातु विज्ञेया गौणिकीगतिः ।
अधम मध्यमाग्राया च कर्म विद्या विशेषतः ।।

मनुस्मृति : 12/41

13. स्वयं अद्वैत पद्धतिशास्त्र या बादरायण सूत्रों के भाष्यकार आदि शंकराचार्य पद्धतिगत किसी भी न्यूनता को नहीं स्वीकार करते हैं। आध्यात्मिक ज्ञान की प्राप्ति के मार्ग में यही न्यूनतायें सबसे बड़े साधक हैं। किन्तु, सद्पात्रता अथवा अधिकारी के परीक्षण हेतु धर्मोपधा, अर्थोपधा, कामोपधा जैसे परीक्षण की व्यवस्था करना आज के देहाभिमानी भौतिक सभ्यता में प्रायः एक दुस्साध्य योजना है। यद्यपि इसमें कोई संदेह नहीं है कि अध्येता के परीक्षण की इस विराट योजना से ज्ञान की विशुद्धता प्रमाणित होती है। कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में मंत्रियों की नियुक्ति तक में परीक्षण की इस प्रणाली का समावेश किया है (अर्थशास्त्र 1:5/9)। आज के सर्वशिक्षा अभियान में और लोकतांत्रिक समानता के ढाँचे में इस तरह की परीक्षणीयता की संभावना नहीं है; बात ऐसी नहीं है। बल्कि, यह है कि ज्ञान के प्रति ऐसी शुचितावादी प्रवृत्ति में पश्चिम को अपने सामन्तवादी अनुभवों से धार्मिक शोषण के बीज दिखाई पड़ते हैं। इसका कारण जैसा कि अम्बिका दत्त शर्मा कहते हैं–आस्था एवं औचित्य प्रणाली का कठोर एकीकरण है। (अम्बिका दत्त शर्मा : 2015) ।

14. मनुष्य/जीव विज्ञान के क्षेत्र में मस्तिस्क से जुड़ेएक नए शब्द का उपयोग शुरू हुआ है जिसे हम–न्यूरो–प्लास्टिसिटी कहते हैं। इस शब्द का अभी हिन्दी समानार्थक नहीं है, इसलिये हम इसे यही कहेंगे। लेकिन इसका मिलता–जुलता शब्द हजारों वर्षों से उपयोग होता रहा है जिसे हम "वैचारिक परिवर्तन" कहते रहे हैं। समझ और परिभाषा के लिये कहें तो मस्तिष्क की कोशिकाओं, यानि न्यूरॉन, का एक पैटर्न (कुछेक न्यूरॉन का आपस में जुड़ाव और उसका एक विशेष जाल) हर विचार या अनुभव के लिये मस्तिष्क में बनता है। यही जाल जब पुष्ट या स्थाई होता है तब वो विचारों/भावनाओं का रूप ले लेता है।

इस प्रकार न्यूरो–प्लास्टिसिटी का अर्थ वैचारिक परिवर्तन ही है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

पहले विचार और जीव विज्ञान के बीच की एक कड़ी गायब दिखती थी, पर अब आधुनिक कम्प्यूटर और सूचना–तकनीक के विकास ने मस्तिष्क विज्ञान के कई रहस्यों पर से पर्दा उठाने शुरू कर दिया है। तो इस प्रकार 'वैचारिक परिवर्तन' एक भौतिक सच्चाई का रूप ले चुका है। ये था तो पहले से, लेकिन पश्चिमी विज्ञान के अनेक प्रयासों से पश्चिमी वैज्ञानिकों को अब समझ आने लगा है। ये आने वाले दिनों का विज्ञान का एक बड़ा कार्यक्रम बनने वाला है। हां, न्यूरो–प्लास्टिसिटी के लिये वे अब भौतिक उपकरणों का उपयोग कर रहे हैं, इसलिये इसे वैचारिक परिवर्तन का नाम नहीं दे रहे। पर वास्तव में दोनों एक ही सिद्धांत हैं।

यदि वैचारिक परिवर्तन या न्यूरो–प्लास्टिसिटी न होती तो शिक्षा का कोई मतलब होता ही नहीं। यूं कहें तो, जो मानसिक जड़त्व का सिद्धांत मस्तिष्क पर लागू है,उसके बाद मस्तिष्क में कोई परिवर्तन सम्भव ही नहीं था। न्यूरल–जाल का प्रभाव फिर से डीएनए की सूचना भंडारण पर नहीं होता तो फिर म्युटेशन का कोई आधार नहीं होता। तो ये एक सच्चाई रही है कि न्यूरल–नेटवर्क में परिवर्तन न केवल भौतिक बल्कि वैचारिक–दोनों तरीके से होता है। वैज्ञानिकों ने जेनेटिक इंजीनियरिंग के माध्यम से सीधे तौर पर डीएनए की सूचना–प्रणाली में छेड़छाड़ किया है, और उसका प्रभाव यह है कि इसके द्वारा शरीर में पैदा होने वाली अनेक बीमारियों का निराकरण भी किया है।

कहने का अर्थ यह है कि वैचारिक परिवर्तन शिक्षा की मूल भूमि है। इस परिवर्तन को कैसे अंजाम देना है इसके लिये अनेक तरीके विकसित किये गए। लेकिन यह तय है कि मस्तिष्क के अनेक न्यूरल–तंत्र या न्यूरल–संरचना में परिवर्तन शदियों से होता रहा है। विकासवाद (भौतिक) हो या अध्यात्मवाद दोनों ही इसी सिद्धांत के कारण आज यहां पहुंचे हैं। अब जरूरत इस बात की है कि मस्तिष्क से जुड़े विषयों को चमत्कारों से जोड़ना बन्द हो, और इसे एक शुद्ध वैज्ञानिक तरीके से संयोजित किया जाय। शिक्षा चाहे तकनीक हो या आध्यात्मिक, चमत्कारों का कोई स्थान नहीं होना चाहिये। हर मनुष्य भौतिक दृष्टि से उतना ही मूल्यवान है, परन्तु वैचारिक सूचनाओं के समायोजन की क्षमता के कारण साधारण या विशिष्ट होता है। तो यदि हर मनुष्य के मस्तिष्क को इस प्रकार गढ़ा जा सके कि वो एक समग्र निर्णायक की भूमिका अदा कर सके, इसके लिये शिक्षा क्षेत्र में एक

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

गम्भीर परिवर्तन की आवश्यकता है। ये परिवर्तन किसी एक राष्ट्र विशेष की आवश्यकता नहीं है, बल्कि वैश्विक है। एक प्रकार से जो हालत आज मनुष्य की है वो भौतिक संसाधनों की कमी के कारण नहीं बल्कि एक ऐसे अनपेक्षित कुशिक्षा के कारण है जिस रास्ते मनुष्य समुदाय जाने–अनजाने शदियों से बढ़ता चला गया है।

प्रस्तुत आलेख में जिसे मेन्टल मेटाबोलिज्म कहा गया है वह उक्त वैज्ञानिक दृष्टिकोण से एक कदम आगे की प्रस्तावना करता है। वह ऐसे कि न्यूरो प्लास्टिसिटी अभी चेतना को भौतिक उपादान के रूप में ही देख रही है जो अद्वैत पद्धति में पराङ्मुखी चेतना है। जबकि अद्वैत पद्धति इससे आगे चेतना को आत्म–चेतन धरातल पर भी समझती है जिसे प्रत्यङ्मुखी चेतना कहा गया है। इस तथ्य पर एक अन्य तरीके से भी विचार कर सकते इसके लिए निम्नलिखित उद्धरण सहायक

1. हमारे डीएनए के 3–4% भाग में ही अनुवांशिक कोडिंग है, बल्कि 96–97 % खाली।

2. भौतिक वैज्ञानिकों का अनुमान है कि देखे जाने वाले ब्रह्मांड में केवल 3–4% ही ज्ञात कण/वस्तु हैं, बाकी का 96–97% अज्ञात (21% काला कण और 75 % काली ऊर्जा) है। यह जो काली ऊर्जा है या यूँ कहें कि अज्ञान है वेदान्त उसका संधान योगज प्रत्यक्ष के द्वारा करता है। कहने का तात्पर्य यह है कि ज्ञान–विनिर्माण की अद्वैत पद्धति की ओर यह विश्व अग्रसर है। जैसे जैसे राजनीतिक–आर्थिकी की ज्ञान–विनिर्माण में प्रभावी भूमिका निःशेष होगी वैसे वैसे अद्वैत पद्धति की ज्ञान–विनिर्माण योजना प्रतिष्ठित होगी। 'न्यूरो–प्लास्टिसिटी' की अवधारणा पर अपने वैज्ञानिक मित्र जितेन्द्र कुमार राय से विमर्श के लिए उन्हें साधुवाद।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची –

1. *लियो स्ट्रास (1959) वाट इज फिलॉसफी, द फ्री प्रेस ऑफ ग्लासको, न्यूयार्क।*
2. *विलियम ब्लेक (1975), द मैरेज आफ हैवेन एण्ड हेल, आक्स्फोर्ड युनिवर्सटी प्रेस, आक्स्फोर्ड।*
3. *मैक्स होखाईमर एवं थियोडोर एडार्नो (2002), डाईलेक्टिक ऑफ इन लाइटेन्मेंट, स्टैनफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, स्टैनफोर्ड।*
4. *स्वामी योगीन्द्रानन्द (2017), ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्यम्, चौखम्भा, विद्याभवन, वाराणसी।*

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

5. कार्ल पॉपर (2002), कन्जक्चर्स एण्ड रेफ्यूटटेशन्स : द ग्रोथ ऑफ साइन्टिफिक नॉलेज, राइटलेज, न्यूयार्क।
6. अम्बिका दत्त शर्मा (2015), भारतीयता के सामासिक अर्थ–सन्दर्भ, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली।
7. डेविड ईस्टन (1973), पॉलिटिकल सिस्टम, साईन्टिफिक बुक एजेन्सी, कोलकाता।
8. विश्वनाथ मिश्र (2013), संरचनावाद, अन्तर्गत सामाज विज्ञान विश्वकोश, सं. अभय दूबे, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली।
9. शिवराज कौण्डिन्य (2010), मनुस्मृति : कुल्लुक भट्ट टीका, चौखम्भा, विद्या भवन, वाराणसी।
10. विश्वनाथ मिश्र (2015), उत्तर आधुनिकतावाद : अ–ऐतिहासिक एवं अ–सामाजिक मानवीय विवेक की तार्किक परिणति, उन्मीलन, वर्ष–29, अंक–1
11. डगलस रेसकॉफ (2005), गेट बैक इन द बॉक्स : इन्नोवेशन फ्राम द इनसाइड आउट, कालिन्स, न्यूयार्क।
12. माइकल जे. सैंडल (1984), द प्रोसिजरल रिपब्लिक एण्ड द अनइनकम्बरड सेल्फ, वॉलिटिकल थ्योरी, भाग–12, अंक–1
13. डी.बी. रेनसिक (2009), प्रेस्पेक्टिव : डिस्क्लोजिंग हिडेन सोर्स ऑफ फंडिंग, एकेडमिक मेडिसिन : जर्नल ऑफ द एसोसिएशन ऑफ अमेरिकन मेडिकल कालेजेज, वर्ष 84, अंक–9

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

रमाकान्त त्रिपाठी का अद्वैत दर्शन-२

आनन्द मिश्र

बीसवीं सदी के अद्वैत चिन्तकों में प्रो. रमाकान्त त्रिपाठी (1918–1981) का एक प्रमुख स्थान है। त्रिपाठी कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य और राधाकृष्णन् की परम्परा को आगे बढ़ाते हुए अपनी रचनाओं के माध्यम से अद्वैत को दार्शनिक चिन्तन के चूड़ान्त के रूप में स्थापित करने का प्रयास करते हैं। इस दृष्टि से उनके प्रयास को टी. आर. वी. मूर्ति, रासबिहारी दास और जी. आर. मलकानी के प्रयासों की कड़ी में समझा जा सकता है। "स्वातन्त्र्योत्तर भारतीय दर्शन के पाँच दशक" में श्रीप्रकाश दुबे रमाकान्त त्रिपाठी के दर्शन की टी.आर.वी. मूर्ति और नन्द किशोर देवराज के दर्शनों के साथ विशेष चर्चा करते हैं। दुबे कहते हैं कि ये तीन ऐसे नाम हैं "जिन्होंने तुलनात्मक दर्शन एवं वेदान्त के आधार पर आधुनिक भारतीय दर्शन को नई दृष्टि प्रदान करने का प्रयास किया है।"[1] दुबे के अनुसार त्रिपाठी का विशेष अवदान यह है कि उन्होंने अद्वैत के आत्मदर्शन की संगत व्याख्या कर उसे पूर्ण दर्शन के रूप में प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया । दुबे कहते हैं "डॉ. रमाकान्त त्रिपाठी (1918–1981) राधाकृष्णन्–मूर्ति की परम्परा को आगे बढ़ाते हुए अद्वैत दर्शन को और अधिक स्पष्ट करने का प्रयास करते हैं। इनके अनुसार आत्मान्वेषण ही दर्शन का प्रमुख लक्ष्य है। .....दर्शन का एक मात्र सर्वनिष्ठ पक्ष संभवतः प्रतिवर्ती चिन्तन ही है। यह एक ऐसी चेतना है जो स्वयं के बारे में चिन्तन कर सके। वस्तुनिष्ठ चेतना का अनुवर्ती अभिज्ञान ही दार्शनिक चेतना है। डॉ. त्रिपाठी के अनुसार दर्शन की उत्पत्ति अध्यास के निराकरण में होती है। अध्यास के निषेध के बाद व्यक्ति शाश्वत–सनातन का चिन्तन करने लगता है। इनके मत से दर्शन का कोई अन्य विकल्प नहीं है, यह एक अनिवार्यता है। प्रारम्भ में यह एक आलोचनात्मक विधा के रूप में दीखता है। परन्तु निषेधात्मक स्तर से आगे जाकर यह पूर्ण सत्य का अनुसंधान करता है। यह तर्क से श्रुति की ओर तथा श्रुति से अनुभूति की ओर अग्रसर होता है।"[2] दुबे मुख्यतः त्रिपाठी के "माइ क्वेस्ट फार द सेल्फ" के आधार पर

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

उनके दर्शन का विवचेन करते हैं।[3] यह लेख देवराज द्वारा संपादित पुस्तक "इण्डियन फिलॉसफी टुडे" में संग्रहित है जिसमें त्रिपाठी दर्शन सम्बन्धी अपने विचारों की रूपरेखा प्रस्तुत करते हैं।[4] पुस्तक के संपादक देवराज कहते हैं "गुरु एवं श्रुति के महत्त्व पर जोर देकर त्रिपाठी उन साधनों के महत्त्व को पुनर्स्थापित करते हैं जिनके माध्यम से प्राचीन दार्शनिक आत्मा के तत्त्व की खोज करते थे।"[5] यह सही है कि त्रिपाठी का महत्त्व इस बात में है कि उन्होंने दर्शन में श्रुति के महत्त्व को स्थापित किया और यह भी सही है कि त्रिपाठी अपने समकालीनों और पूर्ववर्तियों से इस अर्थ में भिन्न हैं कि शास्त्रीय अद्वैत के प्रति उनकी निष्ठा अन्यों की अपेक्षा बलवत्तर है, पर इसका यह अर्थ यह नहीं समझा जाना चाहिए कि वे धर्म एवं दर्शन में अन्तर नहीं करते हैं। वे कहते हैं "दर्शन धर्म से बिल्कुल भिन्न है क्योंकि यह अपने मूल स्वरूप में समीक्षात्मक और विमर्शात्मक है।..... जगत् की सत्ता के प्रति जबरदस्त संदेह दर्शन की मूल विशेषता है, इस कारण इसकी अभिवृत्ति रूढ़िवाद की न होकर समीक्षा की है। दर्शन एक खोज है, धर्म की तरह अनुभव नहीं, यह सब वस्तुओं के सत्य या तत्त्व की खोज है।"[6] वास्तव में त्रिपाठी के दर्शन और उनकी दार्शनिक यात्रा के सम्यक् अवगाहन के लिये हमें उनकी समस्त कृतियों को संज्ञान में लेना होगा। जॉन हिक, सारा ग्राण्ट, नन्द किशोर देवराज, श्रीप्रकाश दुबे या अम्बिकादत्त शर्मा एवं संजय शुक्ल त्रिपाठी की किसी एक रचना या रचना विशेषों का ही संज्ञान लेते हैं।[7]

कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य की ही तरह जिस एक प्रश्न से त्रिपाठी आद्यन्त जूझते रहे वह 'परम निरपेक्ष' की समस्या थी। त्रिपाठी का यह सुनिश्चित मत था कि यह परम निरपेक्ष अद्वैत प्रोक्त ब्रह्म ही हो सकता है और अद्वैत प्रोक्त ढंग से ही इसका साक्षात्कार हो सकता है। अनुभवातीत या निरपेक्ष का अवगाहन न तो इन्द्रियानुभव से संभव है और न ही बुद्धि द्वारा। त्रिपाठी कहते हैं कि यह कि अनुभवातीत की सत्ता है, यह कि अनुभवातीत को हम जान सकते हैं, यह कि उसको जानने का एक निश्चित मार्ग है; इसकी अवगति हमें श्रुति के द्वारा ही हो सकती है।[8] अब श्रुति की इस सहायता को हमें दर्शन की कमजोरी नहीं बल्कि उसका बल समझना चाहिए। त्रिपाठी वेदान्त को इस श्रुतिबल से युक्त पाते हैं और इसी कारण उसे अन्य दर्शनों की अपेक्षा वरेण्य पाते हैं।[9] यहाँ ध्यातव्य है कि टी. आर. वी. मूर्ति वेदान्त और बौद्ध दर्शन में बौद्ध दर्शन को वेदान्त की अपेक्षा वैश्विक स्तर पर अधिक

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

वरेण्य पाते हैं क्योंकि वेदान्त एक निश्चित परम्परा से जुड़ा हुआ और वेद के प्रामाण्य पर अवलम्बित है।[10] अब जो मूर्ति के अनुसार कमजोरी है त्रिपाठी उसे उसका बल मानते हैं ।

हम आगे के पृष्ठों में त्रिपाठी के परम निरपेक्ष विषयक मत को विस्तार से समझने की कोशिश करेंगे । प्रस्तुत लेख के तीन खण्ड हैं। प्रथम खण्ड में यह दिखाने का प्रयास किया गया है कि किस प्रकार त्रिपाठी के अनुसार दर्शन और तत्त्वमीमांसा का प्रमुख लक्ष्य अवाच्य या अनुभवातीत के स्वरूप का उद्घाटन है। उद्घाटन के इस क्रम में श्रुति, युक्ति व अनुभूति की भूमिका सामने आती है। इनको लेकर प्रस्तुत त्रिपाठी के विचारों को संक्षेप में जानने की चेष्टा की गयी है। द्वितीय खण्ड में रमाकान्त त्रिपाठी के अनुसार 'सम्बन्ध' की समस्या को समझ्ने का प्रयास किया गया है जिसे वे भारतीय तत्त्वमीमांसा की आधारभूत समस्या बताते हैं। त्रिपाठी के अनुसार विभिन्न भारतीय दर्शनों का विशिष्ट स्वरूप 'सम्बन्ध' की समस्या पर उनके विचारों से ही निर्धारित होता है। लेख के अंतिम खण्ड में त्रिपाठी के अनुसार आनुभविक व अनुभवातीत, सापेक्ष व निरपेक्ष, संवृति व परमार्थ के बीच सम्बन्ध को लेकर प्रस्तुत विचारों को स्पष्ट करते हुए त्रिपाठी के निरपेक्ष विषयक विचारों को समझने की चेष्टा की गयी है।

I

त्रिपाठी अपने लेखों में तत्त्वमीमांसा को 'निरूपाधिक' या 'असीम' को समझने के प्रयास के रूप में लेते हैं।[11] त्रिपाठी का कहना है कि तत्त्वमीमांसा का मूल प्रश्न 'असीम' को समझना ही है, उसकी अन्य समस्याएँ यथा परम कारण की समस्या, स्रष्टा की समस्या, ईश्वर की समस्या वस्तुतः इसी मूल समस्या से जुड़ी हुयी है। जाहिर है तत्त्वमीमांसा मूलतः सत्ता या सत् की समस्या से सम्बन्धित है।[12] यहाँ ध्यातव्य है कि बीसवीं शताब्दी में कई एक आचार्य तत्त्वमीमांसा की जबरदस्त आलोचना करते हैं या अन्य दूसरे अ–परिकल्पनात्मक तत्त्वमीमांसा की बात करते हैं जो सत्ता या सत् की समस्या से सरोकार नहीं रखता। त्रिपाठी भी परिकल्पनात्मक तत्त्वमीमांसा की आलोचना करते हैं तथा अपरिकल्पनात्मक तत्त्वमीमांसा की वकालत करते हैं। त्रिपाठी के अनुसार वेदान्त या माध्यमिक अपरिकल्पनात्मक तत्त्वमीमांसा है। त्रिपाठी का कहना है कि परिकल्पनात्मक तत्त्वमीमांसा वास्तव में बुद्धिवादियों की देन है जो बुद्धि के

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

प्रागनुभविक प्रत्ययों के द्वारा असीम व अनुभवातीत को समझना चाहते हैं। अनुभवजगत् की कोटियों को– व्यवहार की कोटियों को– अनुभवातीत या परमार्थ पर लागू करना प्रागनुभविक चिन्तन है, परिकल्पनात्मक चिन्तन है। इस तरह का चिन्तन बुद्धिवाद है जो इस विश्वास से उत्पन्न होता है कि बुद्धि में 'परमतत्त्व' या 'असीम' को जानने की क्षमता निहित है। पर वास्तव में यह शुद्ध परिकल्पना मात्र है जिसे ज्ञान समझ लिया जाता है। समीक्षात्मक चिन्तन (Critical thinking) यह दिखाता है कि शुद्ध चिन्तन पूरी तरह से रिक्त होता है तथा इसे ज्ञान के रूप में नहीं समझा जा सकता है क्योंकि ज्ञान में अपरोक्षता होती है जिसके लिये अनुभव की अपेक्षा होती है। शुद्ध चिन्तन तत्त्व (Content) विहीन होता है तथा परस्पर विरोधी मतों को उत्पन्न करता है। त्रिपाठी कहते हैं कि इस प्रकार के परिकल्पनात्मक चिन्तन का जन्म शून्य में नहीं हो जाता है, अकस्मात नहीं हो जाता है। असीम की समझ में इन्द्रियानुभव की अक्षमता बुद्धि या शुद्ध चिन्तन की ओर आकर्षित करती है, उसकी सेवा लेने के लिये प्रेरित करती है। ऐसा प्रतीत होता है मानो यही उपाय शेष है। गणित में सफलता इस शुद्ध चिन्तन (Pure thought) में विश्वास को और पुख्ता करती है। हम देख सकते हैं प्लेटो, देकार्त, स्पिनोजा, लाइब्नित्ज और अन्य दूसरे बुद्धिवादी शुद्ध चिन्तन के क्षेत्र में गणित की सफलता से बहुत प्रेरित थे।[13]

त्रिपाठी परिकल्पनात्मक तत्त्वमीमांसा की काण्टीय आलोचना व प्रत्यक्षवादियों के एतद्विषयक विचार से सहमत हैं। काण्ट ने दिखाया कि किस प्रकार तत्त्वमीमांसा के संश्लेषणात्मक प्रागनुभविक कथन हमें ज्ञान नहीं देते, इसी तरह आधुनिक तर्कशास्त्र ने यह दिखाया कि गणित के प्रागनुभविक तर्कवाक्य भी ज्ञान नहीं हैं क्योंकि वे संश्लेषणात्मक न होकर विश्लेषणात्मक मात्र हैं। इन वजहों से त्रिपाठी बुद्धिवाद या शुद्ध चिन्तन को निरर्थक पाते हैं और परिकल्पनात्मक तत्त्वमीमांसा की आलोचना करते हैं।

प्रश्न है कि यदि शुद्ध परिकल्पनात्मक तत्त्वमीमांसा निरर्थक है तो फिर असीम का ज्ञान कैसे हो, उसकी समझ कैसे हो ? त्रिपाठी यूरोप में परिकल्पनात्मक तत्त्वमीमांसा के विरूद्ध प्रस्तावित तीन प्रकार की प्रतिक्रियाओं की चर्चा करते हैं। एक प्रत्यक्षवादी जो तत्त्वमीमांसा की सिरे से आलोचना करते हैं और उसकी विदाई की बात करते हैं। दूसरी प्रतिक्रिया फेनॉमेनॉलॉजीवादी व अस्तित्ववादियों की है जो तत्त्वमीमांसा से दूरी

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

बनाकर शुद्ध अनुभव तक अपने को केन्द्रित करना चाहता है। तीसरे प्रकार की प्रतिक्रिया वर्णनात्मक तत्त्वमीमांसा के समर्थकों का है जो अपरिकल्पनात्मक तत्त्वमीमांसा की वकालत करते हैं जो तत्त्वमीमांसा को सत्ता सम्बन्धी विमर्श से मुक्त करने की बात करता है।[14]

त्रिपाठी परिकल्पनात्मक तत्त्वमीमांसा की आलोचनाओं से तो सहमत हैं पर इसकी इस परिणति से चिन्तित हैं जो आनुभविक को पुनः प्रतिस्थापित करती है। त्रिपाठी का कहना है कि बुद्धिवाद या प्रागनुभविक तत्त्वचिन्तन के नकार का अर्थ आनुभविक की स्वीकृति नहीं होनी चाहिए । यह तो फिर दर्शन को उसी आदिम विश्वास में ले जाना होगा जिसकी प्रतिक्रिया में उसका जन्म हुआ था । अनुभववाद तो वस्तुतः उसी ओर पुनः लौटना है जिसकी प्रतिक्रिया में दर्शन या तत्त्वमीमांसा का उद्भव हुआ था । दर्शन या तत्त्वमीमांसा भले ही बुद्धिवादी परिकल्पना न हो पर इसका यह अर्थ नहीं कि अनुभववाद, प्रत्यक्षवाद या वस्तुवाद का वरण कर लिया जाए। दार्शनिक चिन्तन या चेतना का आरम्भ तो आनुभविक के सीमित होने के अहसास में, उसके नकार में, उसके बोध में हुआ था । अतः फिर से उससे पूर्व की स्थिति में पहुँचना अकल्पनीय होना चाहिए ।

त्रिपाठी का निष्कर्ष है कि तत्त्वमीमांसा को अपरिकल्पनात्मक (Non-speculative) ही होना चाहिए । प्रागनुभविक चिन्तन पर आधारित परिकल्पनात्मक चिन्तन जो अनुभव की कोटियों को अनुभवातीत पर लागू करता है, उचित नहीं है। पर इसका अर्थ यह नहीं है कि अपरिकल्पनात्मक तत्त्वमीमांसा के रूप में प्रस्तावित वर्णनात्मक तत्त्वमीमांसा जैसे अपरिकल्पनात्मक तत्त्वमीमांसाओं को स्वीकार किया जाए। वस्तुतः इस प्रकार की तत्त्वमीमांसा तत्त्वमीमांसा है ही नहीं क्योंकि इसका सरोकार तत्त्व से, परमतत्त्व से, असीम से होता ही नहीं। परिकल्पनात्मक तत्त्वमीमांसा के निरसन का यह अर्थ नहीं कि 'असीम' को ही दर्शन से हटा दिया जाए। असीम तो तत्त्वमीमांसा का विषय है ही, बिना उसके तत्त्वमीमांसा की कल्पना ही नहीं की जा सकती है। हमको उस असीम तक पहुँचने के दूसरे अपरिकल्पनात्मक ढंगों की ओर ध्यान देना होगा । त्रिपाठी का मानना है कि भारतीय परम्परा में मौजूद माध्यमिक व अद्वैत वेदान्त सच्चे परिकल्पनात्मक तत्त्वमीमांसा के प्रकार भेद हैं ।[15]

त्रिपाठी कहते हैं कि यह नहीं कहा जा सकता है कि माध्यमिक की

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

कोई तत्त्वमीमांसा नहीं है, क्योंकि माध्यमिक आनुभविक व अनुभवातीत का, व्यवहार व परमार्थ का स्पष्ट भेद स्वीकार करता है। इसी तरह से उसे शुद्ध परिकल्पना के रूप में खारिज नहीं किया जा सकता है क्योंकि यह सभी बुद्धि कोटियों–विचारों– परिकल्पनाओं का खण्डन करता है। विचार मात्र को व्याघात, विरोध से भरा बताता है। यह विचारों के आत्म–व्याघाती रूप को दिखाकर शुद्ध चिन्तन या परिकल्पना को खारिज करता है। विचार या चिन्तन (मत, दृष्टियों) के निराकरण के बाद वस्तुतः कुछ विध्यात्मक करने को शेष नहीं रह जाता। सत्य उद्घाटित हो जाता है। जाहिर है माध्यमिक एक सही अपरिकल्पनात्मक दर्शन का खूबसूरत उदाहरण है।[16]

अद्वैत वेदान्त भी इसी तरह की तत्त्वमीमांसा का एक दूसरा उदाहरण है। यह समझना कि अद्वैत वेदान्त पूरी तरह श्रुति पर आधारित दर्शन है, कि यह एक परिकल्पनात्मक दर्शन है, उचित नहीं है। वेदान्त किसी प्रकार का प्रागनुभविक चिन्तन नहीं करता, यहाँ आत्मा की, सत् की कोई प्रागनुभविक परिभाषा नहीं दी गयी है। वास्तव में यह अनुभव का–अनुभव में जो पहले से ही निहित है उसका–विश्लेषण है। वेदान्त कोई नया अनुभव या ज्ञान नहीं देता, न देने का दावा करता है। यह हमारे अनुभव में ही जो प्रमात्व है उसे उसके अप्रमात्व से, सत्य को असत्य से, प्रमा को भ्रम से विविक्त कर, विश्लिष्ट कर प्रमा की ओर, सत्य की ओर, ज्ञान की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करता है । यदि अनुभव में सिर्फ ज्ञान का ही अंश हो और उसमें कल्पना–भावना आदि भी मिश्र न हो तो फिर वेदान्तीय विश्लेषण की आवश्यकता ही न हो। वेदान्त किसी प्रागनुभविक विचार या कोटि को हम पर नहीं लादता। यह सिर्फ यह दिखाता है कि यह सिद्धान्त कि सत्य या प्रमा वह है जिसका बाध नहीं होता हमारे, अनुभव में पहले से ही मौजूद है। इसके बाद जो शेष रह जाता है वह सिर्फ उसको प्राप्त करना जिसका बाध नहीं होता, जिसे नकारा नहीं जा सकता, जो हमारे समस्त निषेधों में अनिषेध्य और अबाध्य के रूप में पूर्वकल्पित रहता है। फलतः यह सम्मुख होता है कि यह आत्मा है और केवल आत्मा ही है जिसका स्वरूपतः बाध नहीं होता है। इस आत्मा का जो समस्त अनुभव का मूल और उसका अधिष्ठान है, उसे उसकी उपाधियों व आगन्तुकताओं से मुक्त कर उसकी शुद्धता में साक्षात्कार किया जा सकता है। लेकिन यह संभावना सिवाय श्रुति के और किसी उपाय से नहीं जानी जा सकती। श्रुति यहाँ आती है, ठीक इस

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

स्थान पर आती है। पर यह किसी प्रकार अन्धविश्वास थोपने नहीं आती बल्कि साक्षात् व अपरोक्ष अनुभूति की ओर ले जाने के लिए आती है जिसे यहीं और अभी पाया जा सकता है। अद्वैत इसलिए न तो परिकल्पना है, न ही शुद्ध बुद्धि पर आधारित कोई बुद्धिवादी सिद्धान्त और न ही श्रुति पर आधारित कोई रूढ़िवादी मत। यह अनुभव में पहले से जो विद्यमान है उसको अन्वेषित और आवरणमुक्त करने की पद्धति है, श्रुति केवल इस अन्वेषणा को पुष्ट करती है।[17]

त्रिपाठी का महत्त्व इस बात में है कि उन्होंने दार्शनिक चिन्तन में श्रुति के महत्त्व को प्रतिस्थापित किया। त्रिपाठी तर्क देते हैं कि श्रुति का उपयोग रूढ़िवादिता नहीं है। उनका कहना है कि भारतीय परम्परा श्रुति, युक्ति व अनुभव का समन्वय करती है। न तो यह मात्र अनुभव पर और न मात्र बुद्धि पर जोर देती है और न ही श्रुति के महत्त्व को नजर अन्दाज करती है।[18]

पश्चिमी परम्परा के विरूद्ध भारत में न तो गणित को और न तो विज्ञान को ही ज्ञान का आदर्श माना गया है। यहाँ न तो बुद्धि को कभी अनुभव पर या अनुभव को बुद्धि पर महिमामण्डित करने की चेष्टा की गयी है। भारत में ठेठ पश्चिमी अर्थ में कोई भी ऐसा सम्प्रदाय नहीं है जिसे बुद्धिवाद कहा जा सकता है, कोई भी ऐसा सम्प्रदाय नहीं है जो तत्त्वमीमांसीय ज्ञान के लिए बुद्धि को स्रोत मानता हो। इसी तरह से शुद्ध अनुभववादी परम्परा भी कोई नहीं है। चार्वाक अवश्य अनुभववादी आदर्श की बात करता है पर उसे गम्भीरता से शायद ही कभी लिया गया। यहाँ अनुभववाद व बुद्धिवाद का कोई संघर्ष नहीं रहा। इस प्रश्न के उत्तर में कि क्यों भारत में शुद्ध बुद्धिवादी दर्शन नहीं प्राप्त होते हैं त्रिपाठी कहते हैं कि दर्शन यहाँ बुद्धि की पूजा न होकर सत्य का अनुसन्धान रहा है, दार्शनिक खोज की पूर्णता बुद्धि के धरातल से प्रज्ञा/श्रुति तक पहुँचकर होती है। अतः बुद्धि की अवहेलना नहीं हुयी है, बल्कि कहना चाहिए कि उसे अनुशासित रखा गया है, उसे उसकी सीमा में रखा गया है। बुद्धि का स्वरूप आकारिक है तथा यह मात्र संगति (Consistency) की प्राप्ति में सहायक होती है, बिना किसी (बाह्य) सहायता के यह न तो विज्ञान और न दर्शन ही प्रदान कर सकती है। विज्ञान के लिए बुद्धि को इन्द्रियानुभव की सामग्री की अपेक्षा होती है तथा दर्शन के लिए श्रुति की सहायता की। सभी भारतीय

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

सम्प्रदाय श्रुति की अनिवार्यता को स्वीकार करते हैं। जैन व बौद्ध वेद को नकारते हैं पर अपने प्रवर्तकों के वचन को प्रामाणिक मानते हैं। कारण यह है कि अनुभवातीत परम के प्रति निरपेक्ष आश्वासन मात्र श्रुति से ही प्राप्त हो सकता है, मात्र जिसे अनुभव हो चुका है उसके वचन से ही आश्वासन प्राप्त हो सकता है। बुद्धि केवल संभावना को संकेतित कर सकती है पर वह परम के अस्तित्व का निरपेक्षतया प्रतिपादन नहीं कर सकती है। श्रुति की स्वीकृति का अर्थ यह स्वीकार करना है कि परम/अनुभवातीत हमारे लिये ज्ञात और ज्ञेय है।[19]

त्रिपाठी आगे कहते हैं कि श्रुति की स्वीकृति निस्सन्देह श्रद्धा का विषय है क्योंकि श्रुति का प्रामाण्य किन्हीं अन्य प्रमाणों से निदर्शित नहीं किया जा सकता है। श्रुति को स्वीकार करना होगा क्योंकि ज्ञान के दूसरे साधन या प्रमाण हमें अनुभवातीत तक ले जाने में अक्षम होते हैं। पर त्रिपाठी कहते हैं कि हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि दर्शन में श्रुति का स्वीकार आरम्भिक ही है अंतिम नहीं, अंतिम (दर्शन का अन्त) तो अनुभूति (Intuition) में है। वस्तुतः श्रुति की स्वीकृति का अर्थ है श्रुति जिसको बताती है उसके अनुभूत होने की संभावना की स्वीकृति क्योंकि श्रुति स्वयं किसी की अनुभूति है, उसका अनुभव है। अतः श्रद्धा मात्र श्रद्धा न होकर ज्ञान का आरम्भ है। जीवनमुक्ति के सिद्धान्त का यही रहस्य है। श्रुति द्वारा प्रकटित सत्यों का यहीं और इस जीवन में ही अनुभव किया जा सकता है—यह महज आस्था या विश्वास का विषय नहीं है। अतः श्रुति की स्वीकृति को अन्धविश्वास या रूढ़ि नहीं समझा जाना चाहिए। श्रुति को बिना स्वीकारे दर्शन मात्र बुद्धि विलास होगा, रिक्त परिकल्पना होगी, परिकल्पनात्मक चिन्तन मात्र होगा । इसी तरह बिना बुद्धि के श्रुति का सम्यक् अवबोध नहीं होगा तथा बिना अनुभव (अनुभूति) के दर्शन महज आस्था मात्र होगी, ज्ञान नहीं होगा। अतः कहा जा सकता है कि भारतीय परम्परा में श्रुति, युक्ति और अनुभूति का सामंजस्यपूर्ण समन्वय प्राप्त होता है।

त्रिपाठी श्रुति की महिमा बताते हुए कहते हैं कि अनुभवातीत का संदेश हमें श्रुति से ही प्राप्त होता है। श्रुति का विषय अनुभवातीत है और केवल अनुभवातीत ही श्रुति का विषय है। यह केवल इसके बारे में और इसी के बारे में बताती है। अतः श्रुति का कोई व्यावहारिक महत्त्व नहीं है, इसका मात्र और मात्र दार्शनिक महत्त्व है। पुनश्च चूँकि यह अनुभव पर आधारित

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

होती है अतः यह सीधे वस्तुसत् को प्रदर्शित करती है, मात्र संभावना को नहीं ।[20]

II

फिलॉसफी ईस्ट एण्ड वेस्ट में 1969 में प्रकाशित अपने लेख "द सेन्ट्रल प्राब्लम ऑफ इण्डियन मेटाफिजिक्स" में रमाकान्त त्रिपाठी यह स्थापित करने की चेष्टा करते हैं कि "सम्बन्ध" की समस्या भारतीय तत्त्वमीमांसा की आधारभूत समस्या है।[21] विभिन्न दार्शनिक सम्प्रदायों का स्वरूप इस विशेष समस्या के सम्बन्ध में उनकी दृष्टि से निर्धारित होता है। त्रिपाठी के अनुसार हमारे अनुभव के मूलतः दो रूप हैं– भेद और अभेद। दार्शनिक पदार्थों के सभी महत्त्वपूर्ण युग्मों–द्रव्य व गुण, नित्य व अनित्य, एक और अनेक, विषय व विषयी, शरीर व आत्मा, सामान्य व विशेष– इन सबको अनुभव के इन दो मूल रूपों भेद व अभेद में अपचयित किया जा सकता है। पुनः ये दोनों एक दूसरे से भिन्न निरपेक्ष रूप में नहीं अपितु सम्बन्धित होकर उपलब्ध होते हैं। अब भेद व अभेद का सम्बन्ध वास्तविक है या मिथ्या है, यह एक आधारभूत प्रश्न है । इस प्रश्न को लेकर कुल चार मत बनते हैं– (1) एक मत यह हो सकता है कि भेद, अभेद और उनका सम्बन्ध तीनों वास्तविक हों। (2) दूसरा मत यह हो सकता है कि भेद व अभेद तो सत्य हो पर उनका सम्बन्ध मिथ्या हो । (3) तीसरा मत यह हो सकता है कि न केवल सम्बन्ध अपितु दानों सम्बन्धियों में से एक अर्थात् भेद अथवा अभेद मिथ्या हो। (4) चौथा मत यह हो सकता कि भेद, अभेद व उनका सम्बन्ध तीनों मिथ्या हों।[22]

त्रिपाठी के अनुसार प्रथम मत अर्थात् भेद, अभेद और उनका सम्बन्ध तीनों वास्तविक हैं, यह भारत के सारे वस्तुवादी दर्शनों का सिद्धान्त है। न्याय, वैशेषिक, मीमांसा, जैन, सभी वैष्णव वेदान्ती द्वैत, विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत आदि इसे मानते हैं। बहुतत्त्ववादी व वस्तुवादी तत्त्वमीमांसा के लिए यह आवश्यक होता है कि वह सम्बन्ध को वास्तविक माने। दो वास्तविक तत्त्वों का सम्बन्ध भला अवास्तविक कैसे हो सकता है? वस्तुवादी दर्शन इसीलिए सम्बन्ध की वास्तविकता पर बल देते हैं। न्यायवैशेषिक ऐसे वस्तुवाद का सर्वश्रेष्ठ प्रतिनिधि है। हम देख सकते हैं कि किस तरह 'समवाय' का सिद्धान्त न्यायवैशेषिक का केन्द्रीय सिद्धान्त है और कैसे द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य व यहाँ तक कि उनका असत्कार्यवाद का सिद्धान्त

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

'समवाय' सिद्धान्त पर आश्रित है। चूँकि यह उनका नाभिक सिद्धान्त है इसीलिए बौद्ध व वेदान्त इसको अपने खण्डन का मुख्य विषय बनाते हैं। बौद्ध अनुभववादियों की तरह पूछते हैं कि यदि सम्बन्धियों (Relata) की तरह सम्बन्ध भी वास्तविक है तो फिर उनकी तरह यह भी क्यों दिखाई नहीं देता है। इसी तरह वेदान्ती आपत्ति उठाते हैं कि यदि सम्बन्धियों की तरह सम्बन्ध भी वास्तविक हो तो फिर इसको स्वयं सम्बन्धियों से सम्बन्धित होने के लिए अन्य सम्बन्ध की अपेक्षा होगी, और इस तरह अनवस्था पतित होगी।[23] अब वस्तुवादियों की इस कमी को सांख्य–योग संज्ञान में लेते हैं जो द्वितीय मत को स्वीकार करते हैं। इनके अनुसार अभेद का प्रतिनिधित्व करने वाला पुरुष तथा भेद का प्रतिनिधित्व करने वाली प्रकृति दोनों वास्तविक हैं पर इनके बीच का सम्बन्ध मिथ्या है। अर्थात् सम्बन्धी तो सत्य हैं पर सम्बन्ध मिथ्या है। प्रकृति और पुरुष दोनों निरपेक्ष हैं अतः इनके बीच वास्तविक अर्थों में कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता है।[24] तीसरा मत बौद्धों और वेदान्तियों का है जो इस बात को मानते हैं कि प्रकृति और पुरुष जैसे दो स्वतन्त्र और निरपेक्ष तत्त्वों को मानना उचित नहीं है। सांख्य ठीक समझता है कि सम्बन्धियों की तरह सम्बन्ध को वास्तविक नहीं माना जा सकता है, सम्बन्ध मिथ्या है। पर दो सत्य/वास्तविक तत्वों का सम्बन्ध भला मिथ्या कैसे हो सकता है ? सम्बन्ध का मिथ्यात्व यह दर्शाता है कि दोनों सम्बन्धियों में एक को मिथ्या होना चाहिए। वेदान्तियों के अनुसार भेद तथा बौद्धों के अनुसार अभेद मिथ्या है। इन्हीं कारणों से वेदान्ती एक सर्वव्यापी व सब में अभिन्न आत्मा को स्वीकार करते हैं जबकि बौद्ध इस प्रकार के किसी अभिन्नता के नियामक पदार्थ यथा द्रव्य, आत्मा, सामान्य आदि को सिरे से खारिज करते हैं। प्रश्न है कि एक समान तर्क स्वीकार करने के बावजूद क्यों वेदान्ती अभेद को और बौद्ध भेद को ही सत्य मानते हैं। त्रिपाठी के अनुसार ऐसा इसलिये क्योंकि वेदान्ती के अनुसार जो भी भेद होता है वह अभेद की पूर्वापेक्षा रखता है– अभेदपूर्वको हि भेदः, जबकि अभेद को भेद की अपेक्षा नहीं रहती, वह उससे निरपेक्ष और स्वतन्त्र होता है। दूसरी ओर बौद्धों का मानना है कि सत्ता उसी की होती है जो अर्थक्रियाकारी होता है। अब चूँकि अभेद में अर्थक्रियाकारित्व होता नहीं है, यह भेद में ही होता है, विशेष में ही होता है, अतः मात्र वही सत्य है। यह केवल भेद है जो गति, परिवर्तन, अर्थक्रियाकारित्व की व्याख्या करने में सक्षम होता है। चौथा पक्ष माध्यमिकों

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

का है जिनके अनुसार सम्बन्ध और दोनों सम्बन्धी अर्थात् तीनों मिथ्या हैं। यदि दोनों सम्बन्धियों में एक मिथ्या है तो भला दूसरा जो उसकी अपेक्षा से है, वह कैसे सत्य हो सकता है ? चूँकि दोनों सम्बन्धी परस्पर एक दूसरे की अपेक्षा से हैं, परस्पर सापेक्षिक हैं अतः एक के मिथ्यात्व का अर्थ दूसरे का भी मिथ्यात्व है। जहाँ अद्वैतियों और अनात्मवादयों का तर्क यह है कि सम्बन्ध के मिथ्यात्व का अर्थ दोनों सम्बन्धियों में एक का मिथ्यात्व होना है वहीं माध्यमिकों के अनुसार दोनों सम्बन्धियों में एक के मिथ्यात्व का अर्थ द्वितीय का भी मिथ्यात्व है क्योंकि दोनों सापेक्षिक हैं। माध्यमिक अद्वैतियों के इस दावे को खारिज करता है कि अभेद अधिक आधारभूत है, इसी तरह यह बौद्धों के इस आग्रह को नकारता है कि सत्ता अर्थक्रियाकारी है। उसका कहना है कि न तो शुद्ध अभेद, न ही शुद्ध भेद परिवर्तन की व्याख्या कर सकता है। परिवर्तन दोनों की अपेक्षा रखता है, पर दोनों सही नहीं हो सकते। आत्मवाद और अनात्मवाद दोनों सत्य हो नहीं सकते, हाँ दोनों को नकारा जा सकता है । और माध्यमिक कहेगा कि सच पूछिये तो तत्त्व इन दोनों (विरोधों) से ही परे है। भेद, अभेद व उनका सम्बन्ध तीनों मिथ्याभूत हैं, तत्त्व इनसे परे है।[25]

त्रिपाठी माध्यमिक के तर्क को अकाट्य पाते हैं। पर वे कहते हैं कि इसमें कमी यही है कि यह तत्त्व को अनुभव से पूर्णतः बाह्य बना देता है, इस तरह के तत्त्व का जिसका अनुभव से कोई सरोकार नहीं हो भला कैसे साक्षात्कार हो सकता है ? तत्त्व से सम्पर्क का कोई बिन्दु ही शेष नहीं बचता है। यह सही है कि विरोधों व व्याधातों से मुक्त होने के लिए तत्त्व को अनुभवातीत होना होगा, पर साक्षात्कृत होने के लिए उसे अनुभव में अन्तर्यामी भी होना होगा । अब अद्वैत की यहीं खासियत सामने आती है जो उसे ऐसा ही मानता है।

सारा ग्राण्ट रमाकान्त त्रिपाठी से सहमति व्यक्त करते हुए कहती हैं "माध्यमिक के निर्मम तर्क सराहनीय हैं, पर इसके बावजूद हमें त्रिपाठी से सहमत होना होगा कि माध्यमिक की यह कमी है कि वह तत्त्व और सामान्य अनुभव के बीच सम्पर्क के किसी बिन्दु को अवकाश नहीं देता है। व्याधातों से मुक्त होने के लिए तत्त्व को अनुभवातीत होना होगा, पर साक्षात्कृत होने के लिए इसे अनुभव में अन्तर्यामी भी होना होगा। और यहीं अद्वैत मत की विशेषता सामने आती है जिसके लिए यह आधारभूत सिद्धान्त है।"[26]

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

III

अपने अन्य समकालीन और पूर्ववर्तियों से रमाकान्त त्रिपाठी इस अर्थ में भिन्न हैं कि शास्त्र और अद्वैत के प्रति उनकी निष्ठा और बलवत्तर है। त्रिपाठी अपनी रचनाओं में शास्त्रीय अद्वैत को प्रतिष्ठित करते हैं। पश्चिमी दार्शनिक पद्धतियों व दर्शनों की विशेषज्ञता उन्हें अद्वैत की स्थापना में नए तर्क प्रदान करती है। त्रिपाठी के अनुसार एक अद्वितीय निरपेक्ष तत्त्व दर्शन का मूल प्रतिपाद्य है। यह निरपेक्ष तत्त्व निर्गुण, निर्विशिष्ट है। त्रिपाठी अपनी रचनाओं में इसे 'असीम', अनुभवातीत, अवाच्य, अवक्तव्य, अनिर्वचनीय आदि विभिन्न संज्ञाओं से इंगित करते हैं। समस्त दर्शन देखा जाए तो उसे जानने का प्रयास है जिसे बुद्धि की कोटियों व इन्द्रिय ज्ञान से नहीं जाना जा सकता है, जो अकथ है अवर्णनीय है। ऐसा होने के बावजूद दर्शन के साथ विडम्बना है कि यह उसी को जानने का प्रयास है। यह प्रयास निरर्थक भी नहीं है क्योंकि इससे कम से कम इतना तो अवश्य प्रदर्शित होता है कि तत्त्व तक पहुँचने के लिए हमें अपने सामान्य ज्ञान–विज्ञान के धरातल से ऊपर उठना होगा। बिना आनुभविक के निषेध के अनुभवातीत तक भला कैसे पहुँचा जा सकता है? संवृति को परमार्थ के लिए जगह देना ही होगा। प्रतीति के निषेध से ही दर्शन का आरम्भ होता है। त्रिपाठी के लिए दर्शन की पद्धति निषेध की पद्धति है, नकार की पद्धति है, बाध की पद्धति है। इस पद्धति से हम उस तक पहुँचते हैं जिसे नकारा नहीं जा सकता, जो अबाध्य है, अनिषेध्य है। यह सही है कि परमार्थ का स्तर संवृति के स्तर से भिन्न है और कि बिना संवृति के निषेध के परमार्थ तक नहीं पहुँचा जा सकता है, पर ऐसा भी नहीं है कि परमार्थ और संवृति ये दो अलग–अलग सत्य हैं। वस्तुतः संवृति का सत्य भी परमार्थ ही है, वही उसका अधिष्ठान है। जैसा कि हम आगे देखेंगे त्रिपाठी जहाँ एक ओर ब्रैडले और हेगल के निरपेक्ष की इसलिये आलोचना करते हैं कि वे 'निरपेक्ष' के अन्तर्यामित्व पर बल देकर उसके परत्व की अवहेलना करते हैं तो दूसरी ओर नागार्जुन की इसलिये आलोचना करते हैं कि उसका शून्य 'अनुभवातीत' और 'पर' तो है पर उसे अन्तर्यामी नहीं बताया गया है। त्रिपाठी जैसा कि हम आगे देखेंगे अपनी रचनाओं में संवृति और परमार्थ, प्रतीति और सत् के बीच सम्बन्ध की गहन विवेचना करते हैं। इस विवेचना से त्रिपाठी दो महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष निकालते हैं। प्रथम यह कि परमार्थ सत् काण्ट के दर्शन की तरह हमारे लिये नितान्त अज्ञात

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

और अज्ञेय है, ऐसी बात नहीं है। जाहिर है त्रिपाठी कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य कृत काण्ट की आलोचना से सहमत हैं। यदि परमसत् अन्तर्यामी है तो फिर उसे अज्ञात व अज्ञेय कहना कहाँ तक उचित होगा ? दूसरा यह जो कि इसी से निकलता है कि यह सही है कि परमार्थ तक पहुँचने के लिये हमें आनुभविक का प्रत्याख्यान करना होगा, पर हमें यह भी नहीं भूलना चाहिए कि वह परमार्थ अनुभव के मूल और अधिष्ठान के रूप में अनुभव में ही मौजूद है। अतः अनुभव का क्षेत्र सत्य और अनृत के मिथुन के रूप में हमारे सामने उपस्थित होता है, दर्शन वस्तुतः इसी की मीमांसा है। इन्हीं कारणों से त्रिपाठी भ्रम की गंभीर विवेचना प्रस्तुत करते हैं। न केवल त्रिपाठी बल्कि मूर्ति, भट्टाचार्य, काण्ट, शंकर या कहिए सम्पूर्ण दर्शन के लिए भ्रम की विवेचना विशेष दार्शनिक महत्त्व रखती है क्योंकि इसी से सत्य और प्रमा का रास्ता जाता है। यह सम्पूर्ण प्रक्रिया अन्य दर्शनों की तुलना में वेदान्त को आप ही प्रतिष्ठित करती है। दो सत्यों की अवधारणा और व्यवहार एवं परमार्थ में भेद को नागार्जुन, काण्ट, स्पिनोजा, हेगेल, ब्रैडले आदि दूसरे दार्शनिक भी किसी न किसी रूप में स्वीकार करते हैं, पर शंकर को यह श्रेय जाता है कि उन्होंने इस बात को प्रदर्शित किया कि परमतत्त्व हमारे लिये नितान्त अज्ञात व अज्ञेय ही नहीं है,अस्मत् प्रत्यय के विषय के रूप में यह सबको सुलभ भी है। अस्तु, त्रिपाठी का वेदांन्त के प्रति आकर्षण स्वाभाविक है। अपने तीक्ष्ण तर्कों से त्रिपाठी यह सिद्ध करने में सक्षम होते हैं कि दर्शन का प्रतिपाद्य एक अद्वितीय निरपेक्ष तत्त्व है जो निरूपाधिक, असीम, अवाच्य और अकथनीय है। दर्शन की पद्धति निषेध की है, नकार की है, बाध की है। निषेध के रास्ते ही निरपेक्ष तक पहुँचा जा सकता है। इसी क्रम में भ्रम, बाध और निषेध के स्वरूप को समझना अनिवार्य है क्योंकि इसी माध्यम से सत्य और मृशात्व के स्वरूप का उद्‌घाटन होता है। निरपेक्षवाद दर्शन का चरम सत्य है या कहिए कि दर्शन सही अर्थों में निरपेक्षवादी दर्शन है। शंकर के अद्वैत वेदान्त में यह निरपेक्षवादी दर्शन अपनी पूर्णता को प्राप्त करता है। वेदान्तीय निरपेक्षवाद सर्वश्रेष्ठ निरपेक्षवाद है, यही एकमात्र सही दर्शन है। हम आगे के पृष्ठों में रमाकान्त त्रिपाठी के इस निरपेक्षवादी दर्शन को और गहरे समझने की चेष्टा करेंगे।

"द अनस्पीकेबल इन मेटाफिजिक्स" में त्रिपाठी यह दिखाने का प्रयास करते हैं कि तत्त्वमीमांसा का मूल सम्बन्ध अवाच्य से है। यद्यपि कहा

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

जा सकता है कि दर्शन में अवाच्य को कोई स्थान नहीं होना चाहिए, पर यह होता है। केवल रहस्यवादी ही नहीं बल्कि प्लेटो, काण्ट, नागार्जुन, शंकर जैसे समीक्षक दार्शनिक भी अवाच्य या अकथ को अपने दर्शन में स्थान देते हैं। विटगेन्सटाइन की प्रसिद्ध पंक्ति 'जहाँ कोई बोल नहीं सकता वहाँ उसे चुप रहना चाहिए' पर टिप्पणी करते हुए त्रिपाठी कहते हैं कि यह सभी जानते हैं कि जहाँ कोई बोल नहीं सकता वहाँ उसे चुप रहना चाहिए, इसके लिए किसी पैगम्बर के उपदेश की जरूरत नहीं है। असली समस्या यह है कि क्या कोई चीज वस्तुतः ऐसी है जो अकथ है।

त्रिपाठी इसी लेख में अवाच्य के दो अर्थों की चर्चा करते हैं– तार्किक व तत्त्वमीमांसीय।[27] जैनों का अवक्तव्य और अद्वैतियों का अनिर्वचनीय वस्तुतः तार्किक है। किसी चीज को सत् के रूप में भी और असत् के रूप में भी समझना तार्किक कठिनाई है, विरोध है। जैनों का अवक्तव्य तथा अद्वैतियों का सदसत् विलक्षण या अनिर्वचनीय का प्रत्यय यही दर्शाता है, इसीलिए त्रिपाठी का निष्कर्ष है कि ये प्रत्यय केवल ज्ञानमीमांसीय या तार्किक हैं। दूसरी तरफ तत्त्वमीमांसीय सन्दर्भ में प्रयुक्त होने पर अवाच्य अनुभवातीत या निरूपाधिक असीम सत्ता को अर्थात् अद्वैतियों के ब्रह्म को, माध्यमिकों के शून्य को, प्लॉटिनस के निरपेक्ष को या काण्ट के स्वयं में वस्तु को निर्दिष्ट करता है। जाहिर है जब हम तत्त्वमीमांसीय अर्थ में अवाच्य का प्रयोग करते हैं तो यह सत्ता के द्विविध स्तर अर्थात् व्यवहार एवं परमार्थ या आनुभविक और अनुभवातीत के भेद को आपादित करता है। अनुभवातीत अवाच्य है क्योंकि यह अनुभव की समस्त कोटियों का अतिक्रमण करता है या हम कह सकते हैं कि भाषा के समस्त आनुभविक आकारों के निषेध द्वारा ही इस पर पहुँचा जा सकता है। अनुभवातीत आनुभविक सत्ता से अलग कोई दूसरी सत्ता न होकर वह है जो द्वितीय को अपदस्थ करती है। वास्तव में संवृति और परमार्थ में अन्तर मात्रा का न होकर स्तर का है।

त्रिपाठी इस मत का खण्डन करते हैं कि निरपेक्ष या अवाच्य सत्ता एक से अधिक हो सकती है। इस सन्दर्भ में त्रिपाठी इस बात की मीमांसा करते हैं कि क्या वैशेषिकों का विशेष अथवा बौद्धों का स्वलक्षण जिन्हें वे दार्शनिक अवाच्य मानते हैं उन्हें निरपेक्ष सत् के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। त्रिपाठी का कहना है कि एक से अधिक निरपेक्ष सत्ताओं को

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

स्वीकार करने पर उनमें सम्बन्ध की व्याख्या कैसे होगी ? यदि वे परस्पर सम्बन्धित हैं तो फिर स्वतोव्यावर्तक कैसे होंगे और यदि सम्बन्धित नहीं हैं तो फिर अनेक निरपेक्षों की सत्ता स्वयं में व्याघात नहीं होगा ? अस्तु, विशेष हों अथवा स्वलक्षण, उन्हें निरपेक्ष सत् के रूप में नहीं स्वीकार किया जा सकता है। यह सही है कि बौद्ध वैशेषिकों के विशेष की अपेक्षा स्वलक्षण को संवृति–परमार्थ के भेद पर आधारित करते हैं तथा उसे नाम–जात्यादि कल्पनाओं से परे मानते हैं। पर इस प्रकार के स्वलक्षण को अनेक मानकर बौद्ध स्वयं अपनी ही अर्न्तदृष्टि के महत्त्वपूर्ण तार्किक उपागम तक नहीं पहुँच पाते हैं। त्रिपाठी प्रश्न उठाते हैं कि अनुभवातीत के स्तर पर संख्या की आनुभविक कोटि का प्रयोग कहाँ तक उचित होगा,बौद्ध यह नहीं देख पाते हैं।[28]

जिस प्रकार निरपेक्ष या अनुभवातीत अनेक नहीं हो सकता है उसी प्रकार वह सावयव या अनेक अंगों से संरचित नहीं हो सकता है। अनुभवातीत को स्पिनोजा के स्वनिष्ठ व स्वभासित द्रव्य की तरह होना चाहिए न कि हेगेल या ब्रैडले के निरपेक्ष की तरह। हेगेल और ब्रैडले का निरपेक्ष एक असीम/अनन्त समग्रता है जो समस्त अपूर्णताओं व असंगतियों से परे है। परन्तु चूँकि यह सीमित अवयवों का समुच्चय है, संश्लेषण है, इसलिये इसे अनुभवातीत नहीं कहा जा सकता है। जाहिर है ब्रैडले और हेगेल का निरपेक्ष सही अर्थों में निरपेक्ष नहीं है क्योंकि वह अनुभवातीत नहीं है । निरपेक्ष यहाँ अपने अवयवों पर निर्भर हो जाता है । इन अवयवों का यहाँ अतिक्रमण नहीं होता बल्कि उनका रूपान्तरण होता है। इस प्रकार हम देख सकते हैं कि त्रिपाठी के अनुसार अनुभवातीत न तो वैशेषिकों के विशेष या बौद्धों के स्वलक्षण के समान हो सकता है क्योंकि वे अनेक हैं और न ही हेगेल या ब्रैडले का निरपेक्ष हो सकता है जो विभिन्न अंगों से संश्लिष्ट सत्ता है।[29]

यहाँ यह प्रश्न उठता है कि यदि तत्त्वमीमांसा का सम्बन्ध अनुभवातीत से है, अवाच्य से है तो उन तत्त्वमीमांसकों के बारे में क्या कहा जाए जो या तो निरपेक्षवादी नहीं हैं या फिर निरपेक्ष को मानने के बावजूद उसे अनुभवातीत या निरूपाधिक नहीं मानते हैं। त्रिपाठी का कहना है कि जहाँ तक बहुतत्त्ववादी या वस्तुवादी दर्शनों का प्रश्न है तो वे निरपेक्षवादी माने ही नहीं जाते। और जहाँ तक रामानुज जैसे निरपेक्षवादियों का प्रश्न है तो त्रिपाठी का कहना है कि रामानुज निरपेक्षवादी हैं ही नहीं। रामानुज ने वस्तुवाद व निरपेक्षवाद के संश्लेषण का प्रयास अवश्य किया है, पर देखा

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

जाए तो रामानुज का निरपेक्ष सही अर्थों में निरपेक्ष या अनुभवातीत है ही नहीं। त्रिपाठी का मानना है कि वस्तुवादी निरपेक्षवादी हो ही नहीं सकता या जो तत्त्वमीमांसक सगुणतत्त्व की बात करते हैं, सविशेष की बात करते हैं वे 'सभी विशेषण निषेध हैं' इस तर्क की गहराई की अवहेलना करते हैं। प्रपंच किसी विधि निरपेक्ष का हिस्सा नहीं हो सकता। निरपेक्ष तक पहुँचने के लिये हमें उसका निषेध करना ही होगा। आनुभविक के निषेध से ही हम अनुभवातीत पर, उपाधियों के निषेध से ही अनुपाधिक पर पहुँच सकते हैं।

उपर्युक्त विमर्श आनुभविक व अनुभवातीत, संवृति व परमार्थ, प्रतीति और सत् के बीच सम्बन्ध की गहन मीमांसा अपेक्षित करता है। यहाँ ध्यातव्य है कि यह मीमांसा त्रिपाठी की रचनाओं का प्रिय विषय रहा है। न केवल अपनी पुस्तक 'स्पिनोजा इन द लाइट ऑफ वेदान्त' बल्कि अपने विभिन्न लेखों यथा द अनस्पीकेबल इन मेटाफिजिक्स, द कन्शेप्ट ऑफ माया, नागार्जुन ऑर शंकर में त्रिपाठी उपर्युक्त समस्या से रूबरू होते हुए दिखते हैं। कहा जा सकता है कि त्रिपाठी सम्मत निरपेक्षवाद इसी प्रक्रिया में अपना आकार ग्रहण करता है। हम आगे के पृष्ठों में पूर्व उद्धृत तीनों लेखों को केन्द्र में रखकर त्रिपाठी के एतद् विषयक विचार को समझने की चेष्टा करेंगे। द अनस्पीकेबल इन मेटाफिजिक्स में त्रिपाठी संवृति व परमार्थ के बीच के सम्बन्ध को लेकर तीन मतों की चर्चा करते हैं। हेगेल और ब्रैडले के अनुसार निरपेक्ष ससीम व नानात्व से ही संरचित होता है, यह उनकी सुसंगत समग्रता है, एकता है। इस पर त्रिपाठी का कहना है कि देखा जाए तो निरपेक्ष यहाँ निरपेक्ष है ही नहीं क्योंकि वह अपने संरचक अंगों पर आश्रित हो जाता है। उपर्युक्त आपत्ति के अतिरिक्त जो सबसे बड़ा दोष त्रिपाठी देखते हैं वह यह कि निरपेक्ष यहाँ बहुत ही अधिक अन्तर्यामी हो जाता है। वास्तविक स्वतन्त्रता या निरपेक्षता तो निरपेक्ष की अतिक्रामिता पर बल देने से होगी, यह दिखाने में होगी कि किस प्रकार निरपेक्ष ससीम और नानात्व से अनिवार्यरूपेण सम्बन्धित नहीं है, वह उनसे स्वतन्त्र, निरपेक्ष है। हेगेल और ब्रैडले इस तथ्य की अवहेलना कर जाते हैं। यदि इन दार्शनिकों का निरपेक्ष बहुत ही अधिक अन्तर्यामी हो जाता है तो दूसरी ओर नागार्जुन का शून्य इतना अधिक अतिक्रामी है कि उसका मानो ससीम या नानात्व से कोई सम्बन्ध ही नहीं रह जाता। नागार्जुन अपने निरपेक्ष को इतने हद तक अतिक्रामी बना देते हैं कि वे उसे (शून्य को) सापेक्ष का अधिष्ठान कहने के

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

लिए भी तैयार नहीं होते। नागार्जुन को भय है कि ऐसा कहकर वे दृष्टियों के जंजाल में पड़ जाएंगे। वस्तुतः इस मत के साथ जो दिक्कत है वह यह कि शून्य नानात्व–ससीम–सापेक्ष से इतना दूर हो जाता है, उनमें इतनी खाई हो जाती है कि उसका हमारे जीवन और अनुभव से कोई संस्पर्श ही नहीं रहता और निरा असत्वत् भासित होता है। त्रिपाठी का कहना है कि इन दोनों अतिवादी मतों के बीच अद्वैत की स्थिति है जिसके अनुसार परम निरपेक्ष न तो ससीम या नानात्व से संरचित होता है और न ही उससे नितान्त असंस्पृष्ट ही है। यह ससीम/सापेक्ष का अधिष्ठान है, यह वह है जो उन्हें सत्ता प्रदान करता है। इसी के कारण ससीम सत्य रूप में भासित होता है। इन दोनों के बीच सम्बन्ध न तो दो तरफा है और न नहीं है। यह सम्बन्ध पूरी तरह से एक तरफ का है जहाँ ससीम/सापेक्ष तो निरपेक्ष पर आश्रित है परन्तु निरपेक्ष सापेक्ष पर निर्भर नहीं करता है। निरपेक्ष पर आश्रित होने के कारण सापेक्ष स्वभाव से परजीवी है, यह निरपेक्ष से ही पालित और पोषित होता है और देखा जाए तो इसी कारण वह निरपेक्ष को आवृत करने में सक्षम होता है। ऐसी स्थिति में यह अनिवार्य हो जाता है कि इस सापेक्ष (नानात्व–ससीम) का, जो अपने अधिष्ठान निरपेक्ष को आवृत कर लेता है तथा उस पर पुष्पित–पल्लवित होता है, निषेध हो। निरपेक्ष के लिये सापेक्ष का निषेध होना ही होगा।

त्रिपाठी कहते हैं कि अतिक्रमण (transcendene) का अर्थ इसलिये यह नहीं है कि ऊपर शीर्ष पर कुछ जोड़ा जाए बल्कि इसका मतलब सापेक्ष का अस्वीकार है। असीम की प्राप्ति ससीम के निराकरण से ही संभव है। दोनों को साथ–साथ नहीं प्राप्त किया जा सकता है। जब ससीम को यथार्थ समझते हैं तो निरपेक्ष कहीं नहीं होता और जब निरपेक्ष का ज्ञान होता है तो ससीम की सत्ता चुक जाती है, क्योंकि असीम ही ससीम को सत्ता देता है। असीम की प्राप्ति का अर्थ मात्र सीमाओं से मुक्त होना है–ससीम से अलग और ऊपर किसी नई सत्ता की प्राप्ति नहीं है।

अस्तु, अद्वैत निरपेक्ष के परत्व व अन्तर्यामित्व दोनों पर बराबर जोर देता है। जगत् के अधिष्ठान के रूप में ब्रह्म अन्तवर्ती है, यह हमारी आत्मा है, सच्चा आत्म है। दूसरी ओर नानात्व से पूरी तरह से मुक्त होने के कारण यह उतना ही अनुभवातीत और पर है। यदि वह 'अन्तर्यामी' न हो तो फिर हमारा उससे कोई सम्पर्क न हो और यदि 'पर' न हो, सीमाओं–अपूर्णताओं से रहित

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

न हो, तो हमारा लक्ष्य न हो। एक स्थिति में हम ब्रह्म का साक्षात्कार नहीं कर सकते, दूसरी स्थिति में हमें इसका साक्षात्कार करने की लालसा ही नहीं होगी।[30]

पीछे जो विचार व्यक्त हुए हैं वे पूर्व में ही त्रिपाठी के अन्य लेख 'द कन्शेप्ट ऑफ माया' में पाये जा सकते हैं।[31] जैसा कि शीर्षक इंगित करता है त्रिपाठी के इस लेख पर कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य के शंकर्स डॉक्ट्रिन ऑफ माया का प्रभाव ढूंढा जा सकता है।[32] इस लेख में त्रिपाठी ब्रैडले, नागार्जुन और शंकर के माध्यम से प्रतीति और परमार्थ के बीच सम्बन्ध के प्रश्न से जूझते हुए दिखायी पड़ते हैं। विशय की प्रस्थापना करते हुए त्रिपाठी कहते हैं कि दार्शनिक चेतना का उत्स ही प्रतीति व परमार्थ के भेद पर आधारित है। हर दर्शन कुछ अनुभवों को, विश्वासों को प्रातीतिक बताता है। दार्शनिक चेतना इन प्रातीतिक अनुभवों का निषेध या अस्वीकृति है। अतः दर्शन को प्रतीति एवं परमार्थ के प्रश्न से जूझना ही होगा और यह निश्चित करना होगा कि क्या प्रतीति है और क्या परमार्थ। त्रिपाठी का मानना है कि ब्रैडले और नागार्जुन दोनों ही अपने द्वन्द्वात्मक न्याय के द्वारा यह प्रदर्शित करते हैं कि तर्क व चिन्तन का क्षेत्र प्रतीति का क्षेत्र है। विचार या तर्क का स्वरूप स्वरूपतः आत्म–विरोधी होता है। उपर्युक्त विषय में सहमति के बावजूद दोनों के अनुसार तत्त्व या परमार्थ से इस प्रतीति का सम्बन्ध भिन्न–भिन्न है। ब्रैडले के अनुसार जहाँ प्रतीति परमार्थ की संरचक है वहीं नागार्जुन के अनुसार परमार्थ प्रतीति से परे है। नागार्जुन के अनुसार कोई मत मिथ्या है इसलिये नहीं कि अन्य मत सत्य है। बल्कि आत्म–विरोधी होने के कारण हर मत मिथ्या है। अब चूंकि हर मत या विचार विरोधग्रस्त है इसलिये तत्त्व विचार या मत से परे है। नागार्जुन के अनुसार तत्त्व नहीं है ऐसी बात नहीं है पर वह विचार की कोटियों से परे है। विचार की कोटियों से परे होने का अर्थ 'नहीं होना' नहीं है। फिर ऐसा भी नहीं समझा जाना चाहिए कि संवृति अलग है और परमार्थ अलग है। परमार्थ वस्तुतः संवृति का ही परमार्थ है।[33] अतः परमार्थ तक तभी पहुँचा जा सकता है जब संवृति का निषेध हो जो तत्त्व को आवृत किये हुए है। दूसरी ओर ब्रैडले यह मानता है कि तत्त्व पूरी तरह से पर/विश्वोत्तीर्ण हो ही नहीं सकता। जिसका निषेध होता है वह असत् मात्र नहीं होता। प्रतीति कोई ऐसी चीज नहीं है जिसका निषेध हो, वस्तुतः इस का निषेध हो भी नहीं सकता है। सच पूछिये तो इन प्रतीतियों से ही तत्त्व

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

विनिर्मित होता है। तत्त्व इन प्रतीतियों से न तो अधिक है और न ही कम। कुछ भी इतना गर्हित नहीं है जिसको परम निरपेक्ष में स्थान न मिले। त्रिपाठी निष्कर्ष निकालते हैं कि ब्रैडले और नागार्जुन सत् व प्रतीति को लेकर परस्पर विरोधी मत देते हैं। नागार्जुन के अनुसार सत् पूरी तरह से पर है, विश्वोत्तीर्ण है, प्रतीति से परे है वहीं ब्रैडले का सत् पूरी तरह विश्वव्यापी है। नागार्जुन के अनुसार प्रतीति (संवृति) सत् को– सत्ता को– आवृत करती है जबकि ब्रैडले के अनुसार प्रतीति सत् को विनिर्मित करती है, संरचित करती है। नागार्जुन के अनुसार सत्ता व प्रतीति में कोई सम्बन्ध नहीं है जबकि ब्रैडले के अनुसार इनमें अनिवार्य सम्बन्ध नहीं है।

त्रिपाठी के अनुसार नागार्जुन व ब्रैडले दोनों समान मर्ज के दोषी हैं। दोनों के अनुसार प्रतीति का स्वरूप शुद्ध तार्किक या आकारिक ढंग से निर्धारित होता है अर्थात् आत्म–विरोधी होने से। द्वन्द्वयाय हर अवधारणाओं और विचारों को आत्म–विरोधी प्रदर्शित करता है। पर प्रश्न है कि हमें सत्य व असत्य की अवधारणा कहाँ से मिलती है। भट्टाचार्य कहते हैं कि "यदि कोई वस्तु भ्रामिक है तो यह वास्तविकता के कारण ऐसा है न कि विचार की अनिवार्यता के कारण।"[34] त्रिपाठी के.सी. भट्टाचार्य के उपर्युक्त मत का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि यदि कोई विचार आत्म–विरोधी है तो उससे यह भला कैसे निगमित होता है कि वह असत्य है। ऐसा हो सकता है कि सत्ता का स्वरूप ही असंगति का हो। ऐसा भी हो सकता है कि विचारों से परे सत्ता हो ही नहीं जैसा कि हेगेल मानता है। अतः आश्चर्य नहीं होता है जब हम नागार्जुन और ब्रैडले दोनों को एक ही आधार वाक्य कि विचार मात्र आत्मविरोधी होता है से परस्पर विरोधी निष्कर्ष निकालते पाते हैं। काण्ट व हेगेल भी इसी तरह अलग–अलग निष्कर्षों पर पहुँचते हैं। वस्तुतः त्रिपाठी यह दिखाना चाहते हैं कि शुद्ध वैचाारिक मीमांसा से सत्ता के स्वरूप पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता है और न ही उससे सत्य या असत्य तक ही पहुँचा जा सकता है। वास्तव में अनुभव ही सत्य या असत्य का निर्णायक है, अतः अनुभवमीमांसा ही हमें वहाँ तक ले जाती है। और यहीं वेदान्त का महत्त्व सामने आता है जहाँ तर्क पर श्रुति को वरीयता दी गयी है, अनुभव को वरीयता दी गयी है।

त्रिपाठी का कहना है कि नागार्जुन व ब्रैडले दोनों ही चेतना का अपचयन विचार या चिन्तन में कर देते हैं जो कि उचित नहीं है। कदाचित्

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

ऐसा लग सकता है कि ब्रैडले ऐसा नहीं करता क्योंकि वह विचार के अतिरिक्त क्रिया और भावना की भी बात करता है पर संगति (consistency) को सत्ता का निकष बता वह देखा जाए तो सम्पूर्ण सत्ता को विचार में अपचयित कर देता है। इसी प्रकार नागार्जुन के अनुसार सब कुछ विचार है, द्वन्द्वन्याय विचार के क्षेत्र में ही संचरण करता है, अपना कार्य करता है। चूँकि हर अनुभव विचार है और विचार आत्म–विरोधी है इसलिए अनुभव आत्म–विरूद्ध हो हमारे सामने आता है।

पर त्रिपाठी पूछते हैं कि चेतना का इस प्रकार विचार या तर्क में अपचयन कहाँ तक उचित है ? सबसे पहले तो यही देखने वाली चीज है कि विचार सत्य होता है या असत्य। अब विचार को लेकर यह संभावना या शंका कि वह सत्य है या असत्य, इसका निर्णय करने के लिये हमें विचार से बाहर जाना होगा। अन्यथा विचार की सत्यता–असत्यता को लेकर शंका की संभावना ही नहीं बनेगी। उपर्युक्त से त्रिपाठी दो निष्कर्ष निकालते हैं। प्रथम यह कि सत्य व मृषात्व की चेतना की संभावना के उदय के लिए आवश्यक है कि हमारे अनुभव में ही दो भिन्न स्तरों को स्वीकार किया जाए, हमें व्यावहारिक और प्रातिभासिक के भेद को स्वीकार करना होगा। दूसरा यह कि यदि सब कुछ विचार ही हो तो फिर ज्ञान, विश्वास व कल्पना में भेद होगा ही नहीं। ज्ञान और ज्ञानेतर में विभ्रम के लिए हमें ज्ञान से इतर अन्य चेतनस्थितियों यथा विश्वास, कल्पना आदि को मानना होगा। मूर्ति का सन्दर्भ देते हुए त्रिपाठी कहते हैं कि अगर केवल एक चेतनस्थिति हो अर्थात् केवल ज्ञान या भावना या क्रिया हो तो जैसा कि मूर्ति कहते हैं कोई विभ्रम होगा ही नहीं। त्रिपाठी इन निष्कर्षों को तत्त्वमीमांसा के क्षेत्र में भी प्रयुक्त करते हैं । त्रिपाठी कहते हैं कि जो भी दर्शन प्रतीति और सत् के भेद को स्वीकार करता है उसके लिए दो चीजें अनिवार्य होती हैं। प्रथम सत्य व मृषात्व की चेतना के उदय के लिए हमें अनुभव में ही दो स्तर स्वीकारने होंगे। अनुभव के एक स्तरीय मत से चाहे वह अनुभववाद हो या विज्ञानवाद हो काम नहीं चलेगा। अनुभव में द्विविध स्तर सत्य और मृषा का– व्यावहारिक और प्रातिभासिक का–मानना ही होगा। दूसरे सत्य व मृषा के बीच विभ्रम की संभावना के लिए चेतना के ज्ञानात्मक व्यापार से भिन्न अन्य दूसरे व्यापारों– क्रियात्मक व भावनात्मक– को भी स्वीकार करना होगा क्योंकि चेतना के विभिन्न व्यापारों में सम्मिश्रण ही विभ्रम का हेतु है।[35] त्रिपाठी

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

कहते हैं कि नागार्जुन और ब्रैडले दोनों ही आचार्य उपर्युक्त दोनों तथ्यों की अवहेलना करते हैं क्योंकि ये दोनों ही प्रत्यक्षात्मक भ्रमों (प्रतिभास) के अनुभव से कुछ सीखना ही नहीं चाहते। भ्रम का निरास न केवल अनुभव के द्विविध स्तरों को प्रकट करता है अपितु वह इसमें उपस्थित चेतना के असंज्ञानात्मक पहलुओं को भी प्रकट करता है।

प्रतीति सम्बन्धी इन दोनों के विचारों से उनका सत् सम्बन्धी विचार भी बुरी तरह से प्रभावित होता है। ब्रैडले की सबसे बड़ी कमी यह है कि वह परम निरपेक्ष (Absolute) को इतना विश्वव्यापी/अन्तर्यामी बना देता है कि वह प्रतीति पर पूर्णतया निर्भर हो जाता है, फलतः निरपेक्ष रह ही नहीं जाता। दूसरी ओर नागार्जुन का परम निरपेक्ष इतना अनुभवातीत हो जाता है कि वह असत्कल्प–अलीक लगने लगता है। यदि प्रतीति के स्तर पर कोई ऐसा बिन्दु न हो जहाँ परमतत्त्व उसे संस्पर्श करे, यदि अनुभव के हर तत्त्व का निषेध ही हो तो इस बात की क्या सुनिश्चितता की हम प्रतीति के निषेध से परमतत्त्व तक पहुँचेंगे ही और यदि प्रतीति से परे कुछ हो ही नहीं तो फिर हमारी गति ब्रैडले जैसी होगी। वास्तव में परमतत्त्व को हमारी आत्मा होना ही होगा अन्यथा यह पूरी तरह से या तो विश्वोत्तीर्ण होगा या विश्वव्यापी। त्रिपाठी का कहना है कि वे नहीं कहते कि ब्रैडले परत्व (Transcendence) को स्वीकार नहीं करता है, वे नहीं कहते कि नागार्जुन अन्तर्यामित्व (Immanenece) को स्वीकार नहीं करता, वे इतना ही कहते हैं कि परत्व व अन्तर्यामित्व को हमारे अनुभव में नहीं प्रदर्शित किया गया है।[36]

उपर्युक्त विवेचन से त्रिपाठी यह निष्कर्ष निकालते हैं कि परम निरपेक्ष न तो पूर्णतया अन्तर्यामी ही हो सकता है जैसा कि ब्रैडले मानता है और न तो पूर्णतया अनुभवातीत या पर जैसा कि नागार्जुन मानता है। ब्रैडले परमतत्त्व को इतना अन्तर्यामी बना देते हैं कि वह निरपेक्ष रह ही नहीं जाता, वहीं नागार्जुन उसे इतना अनुभवातीत या पर बना देते हैं कि वह अलीकवत् हो जाता है। त्रिपाठी का निष्कर्ष है कि परम निरपेक्ष (सत्ता) को अन्तर्यामी और विश्वातीत दोनों होना चाहिए। यदि उसे केवल अन्तर्यामी माने या केवल विश्वातीत, तो दोनों ही उसके वास्तविक स्वरूप से न्याय नहीं कर पाते । इसी तरह प्रतीति को न तो सत्ता का घटक या रूपायक होना चाहिए और न ही सत्ता के संस्पर्श से नितान्त अस्पृष्ट। प्रतीति और परमार्थ का कुछ इस तरह का सम्बन्ध होता है कि जहाँ परमार्थ प्रतीति से स्वतन्त्र होता है

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

वहीं प्रतीति उस पर आश्रित। प्रतीति सत् नहीं हो सकती, स्वतन्त्र नहीं हो सकती जबकि सत् आश्रित नहीं हो सकता। यदि सर्प वस्तुतः सत् हो तो फिर उसका बाध नहीं होता और यदि रज्जु अवास्तविक हो तो उसके ज्ञान की बाध के लिए कोई आवश्यकता नहीं होती। त्रिपाठी कहते हैं कि सत् व प्रतीति का उपर्युक्त सम्बन्ध अद्वैतकृत भ्रम या अध्यास के विवेचन में बखूबी स्पष्ट होता है। सर्प रज्जु को तनिक भी प्रभावित नहीं करता है पर रज्जु सर्प की प्रतीति के लिये अनिवार्य है। यदि नागार्जुन भ्रम/प्रतीति के लिए अधिष्ठान को मुखरतया नहीं स्वीकार करता है तो यह इस कारण से कि नागार्जुन अपने को विचार (Thought) तक ही सीमित रखना चाहता है और प्रात्यक्षिक अनुभव पर विचार ही नहीं करना चाहता है तथा दूसरे इस कारण से कि उसे भय है कि ऐसा करने से दृष्टि–जंजाल में फँस जाएगा। वह यह नहीं देख पाता है कि जब तक प्रतीति (संवृति) को सत् (परमार्थ) से अभिन्न रूप में नहीं लिया जाएगा तब तक प्रतीति होगी ही नहीं तथा ऐसे प्रतीति का निषेध परमार्थ में पर्यवसित नहीं होगा। त्रिपाठी के अनुसार नागार्जुन की सबसे बड़ी कमी यही है और मूर्ति जैसे विद्वान् भी इस बात को स्वीकार करने के लिये विवश होते हैं। परमनिरपेक्ष (परमार्थ) को कहीं भी वस्तुओं के भीतर उनके संरचक आत्म तत्त्व के रूप में नहीं दिखाया गया है।[37] माध्यमिक सम्मत निरपेक्ष की अवधारणा की यह बहुत बड़ी कमी है। त्रिपाठी का निष्कर्ष है कि परम निरपेक्ष (परमार्थ) को जहाँ प्रतीति (संवृति) से एक तरफ अविशुद्ध और स्वतन्त्र होना चाहिए वही संवृति को परमार्थ से अवश्य सम्बन्धित होना चाहिए।

माध्यमिक निरपेक्षवाद की सर्वाधिक सुसंगत व अनुकूलतम व्याख्या टी.आर. वी. मूर्ति के 'द सेन्ट्रल फिलॉसफी ऑफ बुद्धिज्म' में मिलती है। मूर्ति यहाँ कहते हैं कि जिस प्रकार वेदान्त या विज्ञानवाद भ्रम को निरधिष्ठान नहीं मानते हैं उसी प्रकार माध्यमिक भी भ्रम को निरधिष्ठान नहीं मानते। अर्थात् भ्रम माध्यमिक में साधिष्ठान है।[38] इस पर त्रिपाठी प्रश्न उठाते हैं कि यदि तत्त्व अधिष्ठान है तो उसे अनुभव में अन्तर्यामी (अनुस्यूत) क्यों नहीं दिखाया गया है। ध्यातव्य है कि जैसा कि हमने ऊपर देखा मूर्ति भी स्वीकार करते हैं कि माध्यमिक ने तत्त्व को अनुभव में अन्तर्यामी के रूप में प्रदर्शित नहीं किया है। त्रिपाठी कहते हैं कि यदि परम निरपेक्ष अधिष्ठान नहीं है, यदि अनुभव से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है तब वह असत्कल्प हो

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

जाएगा, अननुभूत और अननुभूय हो जाएगा। और यदि तत्त्व को अनुभव (वस्तु) का अधिष्ठान बताया जाए, उसकी आत्मा बताया जाए तो फिर माध्यमिक मत वेदान्त हो जाएगा। त्रिपाठी का कहना है कि वस्तुतः शंकर का आक्षेप यही है– या तो माध्यमिक नितान्त शून्यता का दर्शन है या फिर प्रच्छन्न वेदान्त है। वस्तुतः माध्यमिक तत्त्व को नितान्त अनुभवातीत या पर मानने का दुस्साहस नहीं कर सकता क्योंकि वह इसके दुष्परिणाम से अभिज्ञ है, इसीलिए भले ही प्रच्छन्न रूप में ही सही, वह तत्त्व को कहीं न कहीं व्यवहार में अनुस्यूत भी बताता है जैसा कि धर्मता, तथता जैसे शब्दों से सूचित होता है। अस्तु, परमनिरपेक्ष को न केवल अनुभवातीत अपितु अन्तर्यामी भी होना होगा। वस्तुतः यह एक प्रमुख वजह है जिसके कारण त्रिपाठी माध्यमिक निरपेक्षवाद की अपेक्षा वेदान्तीय निरपेक्षवाद को श्रेष्ठ पाते हैं। परमतत्त्व को स्वयं हमारी आत्मा बताकर शंकर ब्रहम को निर्गुण, निर्विशिष्ट ऐसा प्रतिपादित करने के बावजूद "शून्यत्व" में आपतित होने से बचा लेते हैं।

ध्यातव्य है कि अपने लेख 'नागार्जुन ऑर शंकर' में रमाकान्त त्रिपाठी माध्यमिक दर्शन की गंभीर समीक्षा के ऊपरान्त इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि नागार्जुन के शून्याद्वयवाद की अपेक्षा शंकर का अद्वैतवाद अधिक तर्कसम्मत और सुसंगत है।[39] त्रिपाठी के अनुसार शांकर दर्शन की श्रेष्ठता दो कारणों से है। एक जैसा कि ऊपर बताया गया है कि जहाँ नागार्जुन तत्त्व के अनुभवातीत स्वरूप पर ही बल देता है वहीं शंकर का दर्शन न केवल तत्त्व के अनुभवातीत और अतिक्रामी स्वरूप पर बल देता है अपितु उसके अन्तर्यामित्व पर उतना ही आग्रह करता है। दूसरा जहाँ नागार्जुन सत्ता के द्विविध स्तर की ही बात करते हैं वहीं शंकराचार्य 'प्रातिभासिक' के महत्त्व को ध्यान रखते हुए सत्ता के त्रिविध स्तर की बात करते हैं। 'प्रातिभासिक' की स्वीकृति के कारण शंकराचार्य नागार्जुन की अपेक्षा 'मिथ्यात्व' की अधिक अच्छे ढंग से व्याख्या करने में समर्थ होते हैं क्योंकि अनुभव के धरातल पर ही हमारे सामने सत्ता का वह रूप दृष्टिगत होता है जो असत्य है। वस्तुतः तर्क या बुद्धि द्वारा जगत् का जो स्वरूप हमारे सामने आता है वह उसकी असंगतता या विरोध को प्रदर्शित करता है, पर तार्किक विरोध या असंगति से जगत् का मिथ्यात्व सिद्ध नहीं होता है क्योंकि ऐसी कल्पना की जा सकती है कि सत्य असंगत ही हो। अतः मृषात्व

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

का मापदण्ड अनुभव ही हो सकता है, तार्किक असंगति नहीं। यह अनुभव ही है जो निर्णय कर सकता है कि क्या सही है या क्या गलत है। अब यदि ऐसा है तो हमको अनुभव के धरातल पर ही ऐसा दृष्टान्त मिलना चाहिए जहाँ यह प्रदर्शित किया जा सके कि हर अनुभूत चीज सत्य नहीं होती है। 'भ्रम' या 'प्रतिभास' वैसी ही स्थितियाँ हैं। इसीलिए वेदान्त के लिए भ्रम का विश्लेषण अत्यन्त महत्वपूर्ण है। देखा जाए तो जगत् का भ्रामिक स्वरूप बिना 'प्रतिभास' को स्वीकार किए नहीं स्पष्ट किया जा सकता है।

त्रिपाठी कहते हैं कि यह सही है कि बुद्धि या विचार मात्र का स्वरूप सोपाधिक, सापेक्षिक व विरोधी होता है, पर इससे यह कहाँ निगमित होता है कि वे मिथ्या हैं। हम देख सकते हैं कि जैनों के लिए तत्त्व का स्वरूप ही सापेक्षिक है तो हेगेल के अनुसार विरोध। माध्यमिक को यह कैसे विदित हो जाता है कि जो सापेक्षिक है, विरोधी है वह मिथ्या है। आत्म–विरोध व असंगति हो सकती है, पर मिथ्यात्व मात्र यह विरोध या असंगति नहीं है। त्रिपाठी का कहना है कि मिथ्यात्व का निर्णय तर्क नहीं दे सकता है, यह पूरी तरह से अनुभव का क्षेत्र है। तर्कशास्त्र का स्वरूप आकारिक होता है, वह संगति व असंगति का सिद्धान्त तो दे सकता है, पर सत्य व मृषात्व का सिद्धान्त नहीं दे सकता है। त्रिपाठी कहते हैं कि यदि तर्क को सत्य या असत्य के निर्णय का अधिकार दे दिया जाए तब तो फिर सत्य का स्वरूप विचार से परे होगा ही नहीं। असंगति व विरोध को मृषा नहीं कहा जा सकता क्योंकि असंगतत्व या विरोध प्रत्ययों के विश्व में होता है जबकि मषात्व का सम्बन्ध अनुभव से होता है। रज्जुसर्प इसलिए मिथ्या नहीं है कि वह आत्म–विरोधी है अपितु यह इसलिए मिथ्या है कि इसका दूसरे उच्चतर चेतना (अनुभव) से बाध होता है। सत्य व असत्य के अनुभव के साथ एक तरह की अपरोक्षता जुड़ी होती है जो उसे तार्किक त्रुटि से भिन्न करती है। यह अपरोक्षता अनुभव से आती है। वास्तव में सत्यासत्य का क्षेत्र पूरी तरह अनुभव का क्षेत्र है।[40]

त्रिपाठी का निष्कर्ष है कि मिथ्यात्व असंगति मात्र नहीं अपितु बाध है। बाध एक विचार के जगह किसी दूसरे विचार का होना नहीं है अपितु यह अस्वीकृति या निषेध और मूल्यांकन भी है। हम कह सकते हैं कि यह एक स्तर से उसके ऊपर के स्तर की चेतना पर पहुँचना है। त्रिपाठी कहते हैं कि 'रज्जु–सर्प' इस भ्रम की स्थिति में रज्जु व सर्प दोनों ही मिथ्या नहीं हो

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

सकते जैसा कि नागार्जुन मानता है। यदि दोनों ही मिथ्या हों तो फिर रज्जु का ज्ञान सर्प ज्ञान को कैसे बाधित कर सकता है ? वस्तुतः रज्जु व सर्प दोनों एक ही स्तर के नहीं हो सकते। वेदान्त का कहना है कि आखिर किस आधार पर रज्जु को माध्यमिक मिथ्या कह सकता है ? रज्जु आत्म–विरोधी है, ऐसा नहीं कहा जा सकता है। वास्तव में सर्प को भी मिथ्या नहीं कहा जा सकता है। सर्प इसलिये मिथ्या नहीं है कि वह आत्म–विरोधी है, बल्कि इसलिए मिथ्या है कि उसका उच्चतर चेतना (ज्ञान) से निषेध होता है। वस्तुतः सत्यता व मिथ्यात्व, त्रिपाठी कहते हैं, चेतना के दो स्तरों को संकेतित करते हैं, न कि किसी तर्क–नियम या द्वन्द्वन्याय को। जब तक एक चेतना (ज्ञान) दूसरी से अधिक उँची स्थिति में नहीं होगी तब तक वह उसको खारिज नहीं कर सकती। हमें 'रज्जु' व 'सर्प' के स्तरों में भेद करना ही होगा। 'प्रतिभास' का स्तर अलग होगा और 'व्यवहार' का अलग। यहाँ यह कहा जा सकता है कि यह सम्पूर्ण प्रक्रिया स्वयं लोक या व्यवहार के धरातल पर सम्पन्न होती है, इससे व्यवहार के निषेध की बात कहाँ से निगमित होती है ? त्रिपाठी इस सन्दर्भ में जगन्मिथ्यात्व के लिये परम्परा में प्रस्तुत दृश्यत्व, जड़त्व, परिच्छिन्नत्व आदि हेतुओं को नए सिरे से उपस्थापित करते हैं। पर देखा जाए तो जैसा कि हमने ऊपर देखा त्रिपाठी के लिये जगत् का मिथ्यात्व मात्र तार्किक विमर्श का विषय नहीं है। जैसा कि हमने अन्यत्र देखा था त्रिपाठी दर्शन, दार्शनिक चेतना, तत्त्वमीमांसा आदि की गम्भीर विवेचना से यह प्रतिपादित करने की चेष्टा करते हैं कि दर्शन जगत् के मिथ्यात्व–बोध से आरम्भ ही होता है। वस्तुवाद के धरातल पर सही अर्थों में दर्शन या तत्त्वमीमांसा का उदय हो ही नहीं सकता। हमें देश, काल, वस्तु की परिच्छिन्नताओं व उपाधियों का अतिक्रमण करना ही होगा। बिना आनुभविक के निषेध के तत्त्व तक नहीं पहुँचा जा सकता है। त्रिपाठी इसीलिये हेगेल, ब्रैडले या रामानुज आदि वैष्णववेदान्तियों तथा काश्मीर शिवाद्वयवादियों की अपेक्षा नागार्जुन के शून्यवाद को अधिक परिपक्व पाते हैं जिसके अनुसार परमतत्त्व का स्वरूप विचार और वाणी की सारी कोटियों से परे है और जो तत्त्व की निष्प्रपंचता की व्याख्या अन्यों से अधिक अच्छे ढंग से करने में समर्थ होता है। यह बात अलग है कि प्रपंचातीत की इस अतिक्रमणीयता के सभी संभव उपागमों तक माध्यमिक नहीं पहुँच सका, वेदान्त के द्वारा ही उसका समुचित प्रकाशन हो सका ।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

त्रिपाठी आगाह करते हैं कि कहीं ऐसा न हो कि हम सत्ता की बहुतलीय योजना (व्यवस्था) में अपर को ही पर न समझ बैठे। स्पिनोजीय पदावली का प्रयोग करते हुए त्रिपाठी कहते हैं कि हमें रामानुज–वेदान्तियों व काश्मीर शिवाद्वयवादियों की तरह 'सापेक्षतया निरपेक्ष' को 'निरपेक्षतया निरपेक्ष' समझने की भूल से बचना होगा। चेतना के विविध रूपों से शुद्ध चेतना को अलग करना होगा, इसी प्रकार चेतना के विविध रूपों को उनकी नानाविध अभिव्यक्तियों से भिन्न करना होगा। चेतना के नानाविध रूपों से शुद्ध चेतना अलग है जो कि उनका अधिष्ठान है। चेतना के नानाविध रूपों को संभव बनाने वाला उनमें अनुस्यूत उनका अधिष्ठान शुद्ध चैतन्य अलग है। उसे उसके रूपों व अभिव्यक्तियों से अभिन्न समझना ही मूल भ्रान्ति है। दर्शन इसी भ्रान्ति का निरास है। अतः नानाविध अभिव्यक्तियों व रूपों का निरास आवश्यक है। तभी तत्त्व तक हम पहुँच सकते हैं, तभी परमार्थ की गति संभव होगी। त्रिपाठी के उपर्युक्त विचार उनके लेख 'फ्रीडम' में बहुत ही अच्छे ढंग से अभिव्यक्त हुए हैं जहाँ वे स्वतन्त्रता को उसके विविध रूपों तथा उनकी अभिव्यक्तियों से भिन्न करते हैं।[41] यहाँ बताने की जरूरत नहीं है कि चेतना और स्वतन्त्रता पर्याय रूप में प्रयुक्त हुए हैं। त्रिपाठी कहते हैं कि हमें स्वतन्त्रता को उसके विविध रूपों से अलग करना होगा, इसी तरह स्वतन्त्रता के रूपों को उनकी अभिव्यक्तियों से भिन्न करना होगा। त्रिपाठी के अनुसार नैतिक स्वतन्त्रता, राजनैतिक स्वतन्त्रता, सामाजिक स्वतन्त्रता वास्तव में क्रियात्मक या संकल्पपरक स्वतन्त्रता के रूप हैं। इसी तरह कलात्मक या सृजनात्मक स्वतन्त्रता भी स्वतन्त्रता का एक रूप मात्र है, स्वयं में स्वतन्त्रता नहीं है। स्वतन्त्रता स्वयं में निरपेक्ष है। यह सत्ता की स्वतन्त्रता है, असीम की स्वतन्त्रता है। हम कह सकते हैं कि सत्ता ही स्वतन्त्र है। असीम ही स्वतन्त्र है। इस स्वतन्त्रता तक उसके विभिन्न रूपों के अतिक्रमण द्वारा ही पहुँचा जा सकता है–उनके निषेध द्वारा ही पहुँचा जा सकता है। स्वतन्त्रता की निरपेक्षता यह भी दर्शाती है कि स्वतन्त्रता अपने को नानाविध रूपों में अभिव्यक्त कर सकती है पर ऐसा करने के बावजूद वह उनमें से किसी एक में चुक नहीं जाती, बंध नहीं जाती है। त्रिपाठी इस लेख में स्वतन्त्रता के त्रिविध स्तर की बात करते हैं। एक स्वतन्त्रता स्वयं में, दूसरा स्वतन्त्रता के विविध रूप यथा संकल्पात्मक, भावात्मक आदि, तीसरा स्वतन्त्रता के विशिष्ट रूपों की नानाविध अभिव्यक्तियां यथा सृजनात्मक

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

स्वतन्त्रता अपने को किसी उपन्यास, कलाकृति आदि में अभिव्यक्त करती है, नैतिक स्वतन्त्रता अपने को किसी नैतिक आचरण में अभिव्यक्त करती है। स्वतन्त्रता के इन विभिन्न स्तरों के अनुरूप त्रिपाठी सत्ता के भी त्रिविध स्तर पाते हैं– ब्रह्म, ईश्वर व ब्रह्मा, विष्णु, महेश की त्रिमूर्ति। ब्रह्म निर्गुण, निर्विशिष्ट है, वह ईश्वर के रूप में सविशिष्ट होता है तथा ईश्वर अपने को ब्रह्मा, विष्णु, महेश के रूप में अभिव्यक्त करता है।[42] यद्यपि त्रिपाठी उल्लेख नहीं करते हैं पर बौद्धों के त्रिकायवाद को इसी योजना के अनुरूप समझा जा सकता है।

त्रिपाठी का निष्कर्ष है कि जो स्वतन्त्रता सारे स्वतन्त्रताओं का आधार है, स्वतन्त्रता की समस्त अभिव्यक्तियों का आधार है वह अनिवार्यरूपेण अनुभवातीत है, उसे उसके किसी रूप में सीमित कर साक्षात्कृत नहीं किया जा सकता है। इस अनुभवातीत व निरपेक्ष स्वतन्त्रता का साक्षात्कार स्वतन्त्रता के विविध रूपों के नकार द्वारा ही संभव है। हम एक रूप के निषेध के द्वारा दूसरे रूप पर पहुँचते हैं, फिर उसके निषेध द्वारा तीसरे तक। इस प्रकार स्वतन्त्रता का साक्षात्कार निषेधमुखेन ही होता है भावरूपेण नहीं, क्योंकि भावरूपेण यदि स्वतन्त्रता का साक्षात्कार किया जाए तो फिर यह स्वतन्त्रता के किसी रूप विशेष का ही साक्षात्कार होगा, स्वयं में स्वतन्त्रता का नहीं। लेकिन स्वतन्त्रता का निषेधमुखेन ही साक्षात्कार होता है इसका यह अर्थ नहीं समझा जाना चाहिए कि स्वतन्त्रता निषेधात्मक है, बल्कि यह पूरी तरह से भावात्मक है या कहिये कि यह भाव–अभाव दोनों का अधिष्ठान है। पुनश्च यदि स्वतन्त्रता अपने रूपों में अन्तर्यामी न हो तो फिर उन रूपों के निषेध से हम स्वतन्त्रता तक भला कैसे पहुँच पायेंगे। अतः हमें स्वतन्त्रता को न केवल अनुभवातीत अपितु अन्तर्यामी भी मानना होगा। स्वतन्त्रता अन्तर्यामी भी है और पर भी।

यह कहकर कि संकल्पात्मक स्वतन्त्रता या भावात्मक स्वतन्त्रता स्वतन्त्रता के रूप हैं स्वयं में स्वतन्त्रता नहीं, कि ये कुछ शर्तों के अधीन हैं व उनकी अपेक्षा से हैं, कि वे अपने विशिष्ट क्षेत्रों में तो निरपेक्ष हो सकते हैं पर वे निरपेक्षतया निरपेक्ष नहीं हैं, सापेक्षतया ही निरपेक्ष हैं, त्रिपाठी स्वतन्त्रता की वैकल्पिक अवधारणाओं किंवा निरपेक्ष के वैकल्पिक रूपों के प्रति अपनी अरूचि प्रकट कर देते हैं। इसलिये आश्चर्य नहीं होता है जब हम अपने समकालीनों के विपरीत त्रिपाठी को इस महत्त्वपूर्ण समस्या के विषय में मौन

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

पाते हैं। त्रिपाठी का यह निश्चित विचार है कि निरपेक्ष के विविध रूपों से स्वयं निरपेक्ष अलग है और परे। यही उनका आधार है, अधिष्ठान है। वास्तविक स्वतन्त्रता सत्ता की स्वतन्त्रता है, यह स्वतन्त्रता अनुभवातीत है। यह अनुभवातीत स्वतन्त्रता ही अर्थात् सत्ता की स्वतन्त्रता ही संकल्पपरक स्वतन्त्रता आदि स्वतन्त्रता के विविध रूपों का आश्रय है, अधिष्ठान है। इसी मूलभूत स्वतन्त्रता पर भारतीय दर्शन में बल दिया गया है और इसी का चरम रूप वेदान्त में प्राप्त होता है जहाँ कहा गया है कि मूल स्वतन्त्रता आत्मा की स्वतन्त्रता है, शुद्ध चेतना की स्वतन्त्रता है।

त्रिपाठी कहते हैं कि ईश्वरवादी और अर्ध–निरपेक्षवादी दर्शनों में यथा विशिष्टाद्वैत और काश्मीर शैव मतों में निरपेक्ष की स्वतन्त्रता को क्रियात्मक स्वतन्त्रता के रूप में समझा गया है, फलतः माया यहाँ परम निरपेक्ष की शक्ति है और उससे प्रसूता जगत् वास्तविक। पर ये दर्शन इस बात को समझने में अक्षम रहे कि जब तक स्वतन्त्रता को तात्त्विक अर्थ में नहीं लिया जाएगा, अर्थात् स्वतन्त्रता को किसी चीज के लिए स्वतन्त्रता के रूप में न लेकर स्वयं में नहीं समझा जाएगा, निरपेक्ष की स्वतन्त्रता खतरे में रहेगी।[43] और फिर जिस क्रियात्मक स्वतन्त्रता को इतना महिमामण्डित किया जा रहा है हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि वह जैसा कि हमने ऊपर देखा तभी संभव है जब तात्त्विक स्वतन्त्रता हो क्योंकि वही उसका आधार है, अधिष्ठान है। अस्तु, निरपेक्ष की स्वतन्त्रता को तात्त्विक स्वतन्त्रता के रूप में ही लेना होगा, न कि क्रियात्मक स्वतन्त्रता, भावात्मक स्वतन्त्रता आदि रूपों में। निरपेक्ष की स्वतन्त्रता को तात्त्विक अर्थ में लेने पर ही त्रिपाठी कहते हैं कि प्रतीति के प्रातितिक व ज्ञानमीमांसीय स्वरूप की व्याख्या हो पाएगी (अन्यथा वह भी तात्त्विक हो जाएगा) और तभी दैवी कारणता को विवर्त के रूप में समझा जा सकेगा जो कि निरपेक्ष की निरपेक्षता के लिए आवश्यक है।[44]

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि रमाकान्त त्रिपाठी के अनुसार अद्वैत प्रोक्त वेदान्तिक निरपेक्षवाद ही निरपेक्षवाद का सही प्रारूप है। रामानुज का विशिष्टाद्वैत व काश्मीरशिवाद्वयवाद निरपेक्षवादी दर्शन हैं ही नहीं। ये दर्शन इस बात को समझने में अक्षम रहे कि निरपेक्ष व सापेक्ष का या तत्त्व व नानात्व का सम्बन्ध समान स्तरीय नहीं है। यदि इनके सम्बन्ध को समस्तरीय माना जाएगा तो ससीम व सापेक्ष को अन्ततः निरपेक्ष का ही परिणाम और अंग मानना होगा, परिणामतः वे भी तात्त्विक हो जाएंगे। अतः

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

हमें आश्चर्य नहीं होता है जब हम इन दर्शनों को तत्त्वत्रय से लेकर छत्तीस तत्त्वों की कल्पना करते पाते हैं। निरपेक्ष के निरपेक्षत्व की रक्षा के लिए हमें स्तर भेद करना होगा। अभेद और भेद, तत्त्व और नानात्व, असीम व ससीम, अनुभवातीत और आनुभविक समान स्तर के नहीं हो सकते। हमें इनमें एक को सत्य और दूसरे को मिथ्या मानना ही होगा। वास्तव में वस्तुवाद हो या विज्ञानवाद ये दोनों सत्ता की समस्तरीय (एकस्तरीय) अवधारणा को लेकर प्रवृत्त होते हैं, फलतः इन्हें निरपेक्षवादी दर्शन के रूप में समझा ही नहीं जा सकता क्योंकि निरपेक्षवाद के लिए सत्ता के द्विविध स्तर को मानना अपरिहार्य है। अब यदि ऐसा है तो हम समझ सकते हैं कि क्यों भेद व नानात्व की वस्तुसत्ता के आग्रही रामानुज के वस्तुवादी दर्शन को त्रिपाठी निरपेक्षवाद की संज्ञा देने से इंकार कर देते हैं या अधिक से अधिक उसे अर्धनिरपेक्षवादी दर्शन ही कहना चाहते हैं। यह बात जितनी रामानुज के वस्तुवाद पर लागू होती है उतनी ही काश्मीर शैव सम्मत आभासवाद या विज्ञानवाद पर। काश्मीर शैवमत में सकल नानात्व को शिवचैतन्य का ही विस्तार या प्रसार माना गया है, चैतन्य का विस्फुरण होने से सब कुछ चिन्मय है। जाहिर है यहाँ भी भेद व नानात्व को अभेद के विस्तार के रूप में ही चिन्हित किया गया है, उनमें कोई स्तरीय भेद नहीं है। भेद विवर्त नहीं है। बल्कि काश्मीर शिवाद्वयवादी सायास प्रयास करते हैं कि उनके आभासवाद को विवर्तवाद के रूप में न समझा जाए। देखा जाए तो काश्मीर शिवाद्वयवादी अपने पूर्ववर्ती योगाचार विज्ञानवादियों की अपेक्षा इस अर्थ में अधिक ईमानदार हैं कि वे यह समझ सके कि वस्तुवादी दर्शन की ही तरह विज्ञानवादी दंर्शन में भेद व अभेद का सम्बन्ध समस्तरीय ही बनता है, इसीलिये वे अपने दर्शन में परिकल्पित, परतन्त्र, परिनिष्पन्न जैसे कथित व कृत्रिम स्तरों की कल्पना नहीं करते हैं तथा नानात्व की असिद्धि के लिए निरर्थक के तर्कों को ढूढ़ने का प्रयास नहीं करते हैं क्योंकि यदि सब कछ शिवचैतन्य के भीतर ही घट रहा है तब उसमें क्या सत्य और क्या मिथ्या ? अब यदि ऐसा है तो हम समझ सकते हैं कि त्रिपाठी काश्मीर शैव दर्शन को किसी प्रकार के निरपेक्षवादी दर्शन के रूप में लेने के प्रयास से जैसा कि लक्ष्मीनिधि शर्मा और कमलाकर मिश्र ने अपने अध्ययनों में किया है, असहमत होंगे।[45] यद्यपि त्रिपाठी चर्चा नहीं करते हैं पर हम समझ सकते हैं कि जो बात काश्मीर शैव के आभासवाद पर लागू होती है वही योगाचार के

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

विज्ञानवाद पर भी लागू होगी।[46] योगाचार में विज्ञान मात्र की ही सत्ता है और सब कुछ उसी का परिणाम है। सकल नानात्व विज्ञान का ही परिणाम है, वह उसका विवर्त नहीं है। विवर्त नहीं होने के कारण रूपादि विषय विज्ञान या मनोविज्ञान न तो मिथ्या हैं और न ही आलय विज्ञान या शुद्ध विज्ञान से उनका स्तर मौलिक रूप से भिन्न है। जाहिर है योगाचार को विज्ञानवाद के रूप में ही समझा जाना चाहिए न कि निरपेक्षवाद के रूप में । स्वभावत्रैविध्य की अवधारणा सत्ता त्रैविध्य की अवधारणा से भिन्न है, हमें यह बात समझनी होगी ।

त्रिपाठी का सुनिश्चित मत है कि व्यवहार एवं परमार्थ के भेद पर आधारित निरपेक्षवादी दर्शन में अभेद व नानात्व का, निरपेक्ष और सापेक्ष का, अनुभवातीत व आनुभविक का, आत्म एवं अनात्म का सम्बन्ध समस्तरीय नहीं हो सकता है। इन दोनों में एक ही सत्य हो सकता है। अर्थात् अभेद की ही वास्तविक सत्ता है, निरपेक्ष की ही वास्तविक सत्ता है। यदि इनके बीच सम्बन्ध को समस्तरीय माना जाए तो फिर सापेक्ष भी तात्त्विक हो जाएगा और निरपेक्ष की निरपेक्षता को हानि होगी। अतः निरपेक्ष की निरपेक्षता के लिए हमें भेद व सापेक्ष को मात्र प्रातीतिक और ज्ञानमीमांसीय मानना होगा । हम समझ सकते हैं कि निरपेक्षवादी दर्शन में ठीक इसी स्थल पर माया की भूमिका सामने आती है। भेद और नानात्व के प्रातीतिक और ज्ञानमीमांसीय स्वरूप की व्याख्या के लिए हमें ज्ञानमीमांसीय सिद्धान्त के रूप में अज्ञान या माया की योजना करनी होगी। माया तात्त्विक नहीं है (तात्त्विक नहीं होने से निरपेक्ष की निरपेक्षता पर असर नहीं पड़ता) ज्ञानमीमांसीय है। पर एक 'ज्ञानमीमांसीय सिद्धान्त' के रूप में माया की कल्पना निरपेक्षवादी के लिए अपरिहार्य है अन्यथा नानात्व की व्याख्या असंभव है। और यहीं निरपेक्षवाद के अन्य प्रकारों से अद्वैत का अतिशय सामने आता है जिसने माया की इस महत्त्वपूर्ण भूमिका को सामने रखा। वास्तव में जो निरपेक्षवादी नानात्व व परिवर्तन के हेतु के रूप मे निरपेक्ष को लेते हैं तथा उसे परमकारण के रूप में समझना चाहते हैं वे आनुभविक और अनुभवातीत, देशकालिक और देशकालातीत के सूक्ष्म अन्तर की अवहेलना पर बैठते हैं। निरपेक्ष व सापेक्ष के समस्तरीय न होने से इनके बीच कारण सम्बन्ध की कल्पना 'परिणाम' के रूप में नहीं की जा सकती है क्योंकि ऐसा सम्बन्ध समस्तरीय सत्ता में ही संभव है– उपादान समसत्ताक कार्यापत्तिः परिणामः। दूसरे शब्दों में सापेक्ष

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

को निरपेक्ष के परिणाम के रूप में नहीं समझा जा सकता है, यह उपादानविषमसत्ताक, कार्यापत्तिरूप विवर्त ही होगा। अस्तु, निरपेक्ष को परमकारण के रूप में नहीं समझा जा सकता है। इसे अन्ततः कारण व्यापार से परे मानना होगा। सही कारण–सिद्धान्त विवर्तवाद होगा, न कि परिणामवाद। अब यदि नानात्व व परिवर्तन के हेतु के रूप में निरपेक्ष को नहीं समझा जा सकता है तो हमें इनकी व्याख्या के लिए माया या अज्ञान की कल्पना करनी ही होगी। हम एक बार पुनः समझ सकते हैं कि क्यों निरपेक्षवादी दर्शन को अन्ततः मायावादी और विवर्तवादी होना ही होगा।

दर्शन एवं धर्म विभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय,
वाराणसी-221005

सन्दर्भ एवं पाद टिप्पणी –

1. *श्रीप्रकाश दुबे, "स्वातन्त्र्योत्तर भारतीय दर्शन के पांच दशक", भारतीय दर्शन के 50 वर्ष, सं. अम्बकादत्त शर्मा, विश्वविद्यालय प्रकाशन, सागर, 2007, पृ. 119।*
2. *देखें, वहीं, पृ. 121*
3. *दुबे कहते हैं, "तत्त्वज्ञान को समझने के लिये प्रो. त्रिपाठी सुषुप्ति, समाधि एवं मृत्यु की व्याख्या को आवश्यक मानते हैं। सुषुप्ति में हम अपने अस्तित्व बोध के बिना ही स्थित रहते हैं। इससे स्पष्ट होता है कि शुद्ध चेतन स्वयंप्रकाश एवं उपाधिशून्य हो सकता है। इस स्थति में हमें आनन्द की अनुभूति होती है। समाधि में भी हमें ऐसी ही आनन्दानुभूति होती है। इन दोनों स्थितियों के आधार पर हम मृत्यु के उपरान्त की संभावना को स्पष्ट कर सकते हैं। सुषुप्ति एवं समाधि की अवस्थाओं के उपरान्त आत्मा का अस्तित्व होने के कारण मृत्यु के उपरान्त भी इसके अस्तित्व का अनुमान होता है। आत्मा की अमरता एवं शाश्वत स्थिति का यह बोध हमें अज्ञान से मुक्त करता है। जीवन एवं मृत्यु के प्रति व्यक्ति का ऐसा दृष्टिकोण चूँकि अद्वैत दर्शन में अधिक संतोषजनक रूप से विवेचित है अतः त्रिपाठी के अनुसार यह अन्य दर्शनों की अपेक्षा अधिक पूर्ण दर्शन है।" देखें, वही, पृ. 121।*
4. *आर. के. त्रिपाठी, "माइ क्वेस्ट फॉर द सेल्फ", इण्डियन फिलॉसफी टुडे, सं. एन. के. देवराज, द मैकमिलन कम्पनी ऑफ इण्डिया लिमिटेड, देल्ही, 1975, पृ. 253–266।*
5. *देखें, नन्द किशोर देवराज की भूमिका, वही पृ. XV।*

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

6. रमाकान्त त्रिपाठी, ओमनिसिएन्श (सर्वज्ञत्व), प्रॉब्लम्स ऑफ फिलॉसफी एण्ड रेलिजन, बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी, 1971, पृ. 91 ।
7. द्रष्टव्य, जॉन हिक, डेथ एण्ड इटर्नल लाइफ, वेस्ट मिनिस्टर, केण्टुकी, 1994, पृ. 301–302।
   सारा ग्राण्ट, शंकराचार्यूस कन्शेप्ट ऑफ रिलेशन, मोतीलाल बनारसीदास पब्लिशर्स प्राइवेट लिमिटेड, देल्ही, 1999, पृ. 82–86।
   अम्बिकादत्त शर्मा, संजय कुमार शुक्ल (सं.), इन डिफेन्श ऑफ मेटाफिजिक्स, विश्वविद्यालय प्रकाशन, सागर, 2008, पृ. 26–37।
   नन्दकिशोर देवराज और श्रीप्रकाश दुबे के लिए देखें, उनकी पूर्व उद्धृत पुस्तकें ।
8. रमाकान्त त्रिपाठी, " माइ क्वेस्ट फार द सेल्फ", पृ. 260 ।
9. देखें, त्रिपाठी का लेख "द कन्शेप्ट ऑफ माया", प्रॉब्लम्स ऑफ फिलॉसफी एण्ड रेलिजन, पृ. 101 ।
10. देखें, टी. आर. वी. मूर्ति, हैराल्ड कावर्ड, मुन्शीराम मनोहर लाल पब्लिशर्स प्राइवेट लिमिटेड, न्यू देल्ही, 2003, पृ. 102, 110।
11. साठ के दशक में प्रकाशित विभिन्न लेखों में त्रिपाठी का प्रमुख उद्देश्य दार्शनिक चेतना के स्वरूप को समझना है। त्रिपाठी दर्शन व तत्त्वमीमांसा के परम्परागत इतिहास की गंभीर मीमांसा प्रस्तुत करते हुए तत्त्वमीमांसा को दर्शन के लिए अपरिहार्य बताते हैं। अथवा ऐसा कहा जा सकता है कि तत्त्वमीमांसा के लिए वे सत्ताविमर्श को अनिवार्य पाते हैं। यहाँ ध्यातव्य है कि बीसवीं शताब्दी में प्रत्यक्षवादी चिन्तक तत्त्वमीमांसा के पूर्ण निरसन की बात करते हैं। इस निरसन की प्रक्रिया में ही कुछ लोग इसे पूर्णतया निरर्थक न कहकर वर्णनात्मक तत्त्वमीमांसा की बात करते हैं जो किसी प्रकार के सत्ता विमर्श से अपने को दूर रखता है। त्रिपाठी के अनुसार तत्त्वमीमांसा से सत्ता–विमर्श को अलग नहीं किया जा सकता है।

    ध्यातव्य है कि तत्त्वमीमांसा के लिए प्रस्तुत प्रत्यक्षवादी चुनौतियाँ सिर्फ त्रिपाठी के लिए ही नहीं बल्कि समकालीन भारतीय दार्शनिकों के एक बड़े समूह के लिये दार्शनिक चिन्ता व चिन्तन का विषय बनती हैं। भारतीय आचार्यों द्वारा प्रस्तुत एतद् विषय–विमर्श के लिए देखें "इन डिफेन्स ऑफ मेटाफिजिक्स : इण्डियन इनउन्टर विथ लॉजिकल पॉजिटिविज्म", सं. अम्बिकादत्त शर्मा एवं संजय कुमार शुक्ल, विश्वविद्यालय प्रकाशन, सागर, 2008।

    पूर्व उद्धृत पुस्तक में त्रिपाठी के तीन लेख संकलित हैं। संपादकीय भूमिका में संपादकों ने विस्तार से रमाकान्त त्रिपाठी के तत्त्वमीमांसा विषयक विचारों को स्पष्ट करने का प्रयास किया है। देखें, वहीं, पृ. 26–37 ।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

12. देखें, प्रॉब्लम्स ऑफ फिलॉसफी एण्ड रेलिजन में संग्रहित त्रिपाठी के लेख "मीनिंग ऑफ मेटाफिजिक्स", "नान–स्पेक्युलेटिव मेटाफिजिक्स" और "द अनस्पीकेबल इन मेटाफिजिक्स"। ये लेख पूर्व उद्धृत इन डिफेन्स ऑफ मेटाफिजिक्स में भी संकलित हैं।
13. द्रष्टव्य, प्रॉब्लम्स ऑफ फिलॉसफी एण्ड रेलिजन, पृ.18–19 ।
14. देखें, वहीं, पृ. 19 ।
15. देखें, वहीं पृ. 21–22 ।
16. देखें, वहीं पृ. 22 ।
17. देखें, वहीं पृ. 22 ।
18. रमाकान्त त्रिपाठी, "द प्रॉब्लम ऑफ मेथड इन फिलॉसफी", प्रॉब्लम्स ऑफ फिलॉसफी एण्ड रेलिजन, पृ. 43
19. देखें, वहीं पृ. 43
20. देखें, वहीं पृ. 44
21. त्रिपाठी, आर.के., "द सेण्ट्रल प्रॉब्लम इन इण्डियन मेटाफिजिक्स", फिलॉसफी ईस्ट एण्ड वेस्ट, वॉल्यूम 16, नं0 1, जनवरी, 1969 ।
    त्रिपाठी का यह लेख प्रॉब्लम्स ऑफ फिलॉसफी एण्ड रेलिजन, में संग्रहित है। देखें, वहीं पृ. 54–59 ।
22. सारा ग्राण्ट, शंकराचार्यर्स कन्शेप्ट ऑफ रिलेशन, मोतीलाल बनारसीदास पब्लिशर्स प्राइवेट लिमिटेड, देल्ही, 1998, पृ. 83
    सारा ग्राण्ट अपनी पुस्तक में रमाकान्त त्रिपाठी के सम्बन्ध विषयक मत की विस्तार से चर्चा करती हैं। वस्तुतः त्रिपाठी का लेख ग्राण्ट की पुस्तक का एक प्रमुख आधार है। देखें, वहीं, पृ. 82–86 ।
23. रमाकान्त त्रिपाठी, प्रॉब्लम्स ऑफ फिलॉसफी एण्ड रेलिजन, पृ. 56
24. देखें, वहीं, पृ. 56–57 ।
25. सारा ग्राण्ट, शंकराचार्यर्स कन्शेप्ट ऑफ रिलेशन, पृ. 85 ।
26. देखें, वहीं, पृ. 86 ।
27. रमाकान्त त्रिपाठी, "अ अनस्पीकेबल इन मेटाफिजिक्स", प्रॉब्लम्स ऑफ फिलॉसफी एण्ड रेलिजन, पृ. 24–36 ।
28. देखें वहीं, पृ. 27–28 ।
29. देखें वहीं, पृ. 28 ।
30. देखें, वहीं पृ. 33 ।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

31. रमाकान्त त्रिपाठी, "द कन्शेप्ट ऑफ माया", प्रॉब्लम्स ऑफ फिलॉसफी एण्ड रेलिजन, पृ. 95–102 ।
32. कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य, "शंकर्स डाक्ट्रिन ऑफ माया", स्टडीज इन फिलॉसफी, सं० गोपीनाथ भट्टाचार्य, मोतीलाल बनारसीदास, देल्ही, 1983, पृ. 95–106 ।
33. रमाकान्त त्रिपाठी, "द कन्शेप्ट ऑफ माया", प्रॉब्लम्स ऑफ फिलॉसफी एण्ड रेलिजन, पृ. 96 ।
शून्यता धर्माणां धर्मता है, तथता है।
34. कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य, "शंकर्स डॉक्ट्रिन ऑफ माया", स्टडीज इन फिलॉसफी पृ. 105।
35. देखें, टी. आर. वी. मूर्ति, "इल्यूजन एज कन्फ्यूजन ऑफ सब्जेक्टिव फन्क्शन्स", स्टडीज इन इण्डियन थॉट, सं. हैराल्ड कॉवर्ड, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1983, पृ. 33–43।
36. रमाकान्त त्रिपाठी, "द कन्शेप्ट ऑफ माया", प्रॉब्लम्स ऑफ फिलॉसफी एण्ड रेलिजन, पृ. 98 ।
37. टी. आर. वी. मूर्ति, द सेण्ट्रल फिलॉसफी ऑफ बुद्धिज्म, मुन्शीराम मनोहर लाल पब्लिशर्स प्राइवेट लिमिटेड, न्यू देल्ही, 1998, पृ. 237 ।
38. देखें, वहीं, पृ. 237 ।
39. रमाकान्त त्रिपाठी, "नागार्जुन ऑर शंकर ?", प्रॉब्लम्स ऑफ फिलॉसफी एण्ड रेलिजन, पृ. 128–136 ।
40. देखें,वहीं, पृ. 129–130।
41. रमाकान्त त्रिपाठी, "फ्रीडम", प्रॉब्लम्स ऑफ फिलॉसफी एण्ड रेलिजन, पृ. 110–116 ।
42. देखें, वहीं, पृ. 111 पर त्रिपाठी की पाद–टिप्पणी।
43. रमाकान्त त्रिपाठी, "द कन्शेप्ट ऑफ माया", प्रॉब्लम्स ऑफ फिलॉसफी एण्ड रेलिजन, पृ. 101।
44. देखें, वहीं।
45. देखे, एल.एन. शर्मा, काश्मीर शैविज्म, भारतीय विद्या प्रकाशन, दिल्ली, 2006 । कमलाकर मिश्र, काश्मीर शैविज्म : द सेण्ट्रल फिलॉसफी ऑफ तान्त्रिज्म, श्री सतगुरु पब्लिकेशन्स, दिल्ली, 1999।
46. देखें, ए. के. चटर्जी, योगाचार आइडियलिज्म, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली 1987।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

प्रो. के.सी. भट्टाचार्य द्वारा कांट की पुस्तक संवेदनात्मक बुद्धि की परीक्षा पर किए गये टिप्पणियों का एक अनुशीलन

अरविन्द कुमार राय

प्रो. के. सी. भट्टाचार्य ने अपनी पुस्तक कांट के दर्शन का प्रयोजन नामक ग्रंथ में कांट की पुस्तक संवेदनात्मक बुद्धि की परीक्षा पर कुछ टिप्पणीयाँ की है। इस निबन्ध का उद्देश्य इन टिप्पणीयों का परिष्कार और विश्लेषण करना है। इस दृष्टि से निबन्ध को दो भागों में विभक्त किया गया है– प्रथम भाग तथा द्वितीय भाग। प्रथम भाग में कांट की संवेदनात्मक या भावात्मक बुद्धि की परीक्षा का संक्षिप्त परिष्कृत सार दिया गया है तथा द्वितीय भाग में भट्टाचार्य जी द्वारा की गयी टिप्पणीयों का परिष्कृत सार है। **कांट के दर्शन का तात्पर्य** नामक पुस्तक का वह अंश जिस पर यह निबन्ध आश्रित है, उसे परिशिष्ट में दे दिया गया है। ग्रंथ का अनुवाद बंगाली से हिन्दी में प्रो0 मुकुन्द लाठ ने किया है। कांट के हिन्दी पाठकों के लिए मैंने हिन्दी में प्रचलित शब्दावली का ही उपयोग किया है। ऐसा इसलिए किया गया है कि इस पुस्तक का रसास्वादन हिन्दी के पाठक आसानी से कर सकें। अतः 'काष्ठा' के लिए 'विज्ञान' (idea), 'अध्यवसाय' के लिए 'कथन' या 'निर्णय' (judgment) तथा 'ध्यान' के लिए 'मनन' (contemplation) का प्रयोग किया गया है। 'ध्यान' शब्द में अधिक गुरुत्व है तथा हिन्दी में इसका प्रयोग सजगता (attention) और एकाग्रता (concentration) दोनों के लिए होता है। अतः मुझे 'मनन' शब्द कांट के भावार्थ के अधिक समीप जान पड़ता है। अतः विवेचन करते समय, हिन्दी पाठकों की दृष्टि से शब्दावली में अल्प परिवर्तन कर दिया गया है।

भाग– 1

भावनात्मक बुद्धि की परीक्षा में प्रतिपादित कांट के विचारों का सार :–

I. आत्मा के अनुभव के द्वारों को, कांट के अनुसार, तीन भागों में

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

विभक्त किया जा सकता है– ज्ञान का द्वार, सुख और दुःख के संवेदन का द्वार तथा इच्छा (संकल्प) का द्वार। कांट इन तीनों को एक सामान्य धरातल पर एकीकृत करने के पक्ष में नहीं हैं। ज्ञान का क्षेत्र बुद्धि का क्षेत्र है। सुख और दुःख की वेदना का क्षेत्र भावनात्मक बुद्धि का क्षेत्र है। इच्छा या संकल्प का क्षेत्र प्रज्ञा या व्यवहारिक बुद्धि का क्षेत्र है। इन तीनों बुद्धियों के तीन मूल मंत्र हैं। बुद्धि ज्ञान–प्राप्त करने के लिए नियमों का विधान करती है। शुद्ध–बुद्धि की परीक्षा में कांट ने यह दिखाया है कि किस प्रकार बुद्धि अपने विकल्पों के द्वारा संवेदनों का समन्वय करके ज्ञान उपलब्ध करती है। बुद्धि का मंत्र नियमानुकूल विधान है (Comformity to law)। भावनात्मक बुद्धि प्रयोजनता के लक्ष्य को अपना मूल मंत्र बनाती है। प्रज्ञा या व्यवहारिक बुद्धि का मूल मंत्र निरपेक्ष आदेश के रूप में नैतिक नियम को प्रयोजनता से अभिन्न मानना है (Purposiveness which is at the same time law)।

भावनात्मक बुद्धि का मूल मंत्र प्रयोजनता (Purposiveness) है। प्रयोजनता के मुख्यतः दो भेद हैं– आकारनिष्ठ प्रयोजनता तथा विषयनिष्ठ प्रयोजनता (Formal Purposiveness and objective purposiveness)। जहाँ हम सुख दुःख की संवेदना से प्रयोजनता का आकलन करते हैं, वहाँ आकारिक या आत्मनिष्ठ प्रयोजनता होती है; जहाँ हम गणितीय आकृतियों या प्राकृतिक पदार्थों या विषयों में पायी जाने वाली उपयोगिता के आधार पर प्रयोजनता का विधान करते हैं वहाँ विषयनिष्ठ प्रयोजनता होती है। भावनात्मक बुद्धि की परीक्षा नामक ग्रंथ को कांट ने दो भागों में विभक्त किया है– सौन्दर्यात्मक कथनों की परीक्षा (Critique of the Esthetical Judgement) तथा उपयोगी कथनों की परीक्षा (Critique of the Teleological Judgement)। प्रथम खंड में प्रथम प्रकार की प्रयोजनता पर आधारित सौन्दर्यात्मक कथनों का विवेचन है तथा द्वितीय खंड में द्वितीय प्रकार की प्रयोजनता पर आधारित गणितीय आकृतियों का तथा प्राकृतिक पदार्थों की प्रयोजनता का विवेचन है। प्रयोजनता के भेद को निम्नांकित प्रकार से प्रदर्शित किया जा सकता है–

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

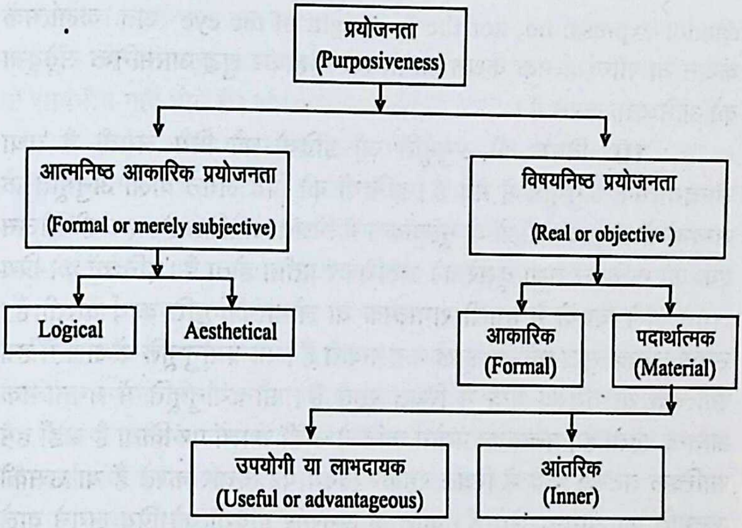

प्रयोजनता को कांट प्रकृति में अन्तर्व्याप्त नियम के रूप में नहीं लेता है। प्रयोजनता को, भावनात्मक बुद्धि, एक मार्गदर्शक सूत्र के रूप में लेती है। अतः इसको अभिव्यक्त करने वाले कथन अनुचिंतनात्मक कथन (Reflective judgment) होते हैं। ये मानव को यांत्रिक कारणता से पृथक् प्राकृतिक अनुसंधान या अन्वेषण के लिए अन्य विकल्प उपस्थित करते हैं। ये नियामक है। यदि इन्हें हम प्रकृति में अन्तर्व्याप्त (Consitutive) नियम के रूप से ग्रहण करते हैं तो द्वन्द्वात्मक जाल में फँस जाते हैं। बुद्धि, ज्ञान के क्षेत्र में जिन कथनों को उपस्थित करती है वे वैकल्पिक कथन (Determinant Judgment) होते हैं, क्योंकि वे प्रकृति में अन्तर्व्याप्त नियम की अभिव्यक्त करते हैं।

II. कलात्मक अनुभूतियाँ संवेदना का विषय हैं। संवेदना का विभाजन दो प्रकार से किया जा सकता है– आत्मनिष्ठ संवेदना तथा विषयनिष्ठ संवेदना। 'कमल नीला है'– यह कथन विषयनिष्ठ संवेदना का उदाहरण है, क्योंकि नीला रंग कमल का विधेय है। 'कमल सुन्दर है'– यह कथन आत्मनिष्ठ संवेदना का उदाहरण है। उससे होने वाली सुख की अनुभूति अनुभवकर्त्ता के सापेक्ष है। अनुभूति हमें विषय का ज्ञान प्रदान नहीं करती है। यह उस विषय के प्रति हमारी संवेदना को अभिव्यक्त करती है। बेकन कहता है, "That is the best part of beauty which a picture

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

cannot express; no, nor the first sight of the eye" अतः कलात्मक कथन या सौन्दर्यात्मक कथन ज्ञानात्मक न होकर शुद्ध आत्मनिष्ठ संवेदना को अभिव्यक्त करते हैं।

III. विषय की अनुभूति जो इंद्रियों को प्रिय लगती है तथा सौन्दर्यात्मक अनुभूति में भेद है। इन्द्रियों को प्रिय लगने वाली अनुभूति के सम्बन्ध में अनुभवकर्त्ताओं के मूल्यांकन में भिन्नता अपेक्षित है। एक ही भोजन एक को रूचिकर तथा दूसरे को अरुचिकर प्रतीत होता है। इन्द्रियों को प्रिय लगने वाले विषयों में हमारी रागात्मक या लोभात्मक वृत्ति कार्य करती है। उनसे उत्पन्न सुख को हम सुख कह सकते हैं। सौन्दर्यानुभूति के क्षण में हम सात्त्विक या तटस्थ भाव में स्थित रहते हैं। सौन्दर्यानुभूति में मननात्मक आनन्द रहता है। मनन का प्रयोग कांट ने उन्हीं स्थलों पर किया है जहाँ हम सात्त्विक तटस्थ भाव में स्थित रहकर विषय पर विचार करते हैं या उसकी अनुभूति का आनन्द लेते हैं। कांट के अनुसार इंद्रियों को प्रिय लगने वाले विषय, सुन्दर विषय तथा शुभ की अनुभूति से जनित संतुष्टि में भेद है। इन्द्रियों को प्रिय लगने वाले विषय रुचिकर होने से रागात्मक संतुष्टि प्रदान करते हैं, सुन्दर विषय मात्र आह्लादकारी होते हैं तथा (विराग–विशिष्ट–भूमि में) जिसे हम अनुमोदित करते हैं, या जिसे हम विषयनिष्ठ मूल्य के रूप में अनुकूल समझते हैं, वह शुभ होता है।

यह कहने में कोई अतिशयोक्ति नही है कि कांट के अनुसार सौन्दर्यानुभूति मानव का व्यावर्तक लक्षण है। सौन्दर्यानुभूति मात्र मानव को होती है। इन्द्रियों को प्रिय लगने वाले रुचिकर विषयों के प्रति राग मानव तथा अन्य पशुओं में भी होता है। निरपेक्ष नैतिक आदेश सभी बुद्धिमान प्राणीयों के लिए होता है। अतः वे मानवेतर सत्ताएँ जो मानव से उपर हैं उन पर भी घटित होता है। अतः सौन्दर्यानुभूति मानव का व्यावर्तक लक्षण है। उपरोक्त तीनों प्रकार से मिलने वाले सुखों में केवल सौन्दर्यानुभूति से होने वाला सुख मुक्त आनन्द होता है क्योंकि इसमें अनुभवकर्त्ता का कोई स्वार्थ नहीं होता है। रुचिकर विषयों में वैयक्तिक स्वार्थ रहता है तथा नैतिक अनुपालन में आध्यात्मिक स्वार्थ रहता है। अतः कांट के अनुसार सौन्दर्यानुभूति में प्रयोजनहीन प्रयोजनता होती है। 'सुन्दरता मात्र आनन्दानुभूति के लिए होती है; उसका अन्य कोई प्रयोजन नहीं होता है।

IV. सौन्दर्य की अभिव्यक्ति करने वाले कथन अनुचिंतनात्मक होते

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

हैं। लेकिन जहाँ राग के कारण विषयी में सुख की अनुभूति होती है उस अनुभूति को अभिव्यक्त करने वाले कथन नितान्त अनुभवकर्त्ता के सापेक्ष होने से सार्वभौम नहीं होते हैं। सौन्दर्यात्मक कथनों की निम्नांकित विशेषताएँ हैं–

(अ) सौन्दर्यानुभूति को अभिव्यक्त करने वाले कथन अनुचिंतनात्मक (Reflective) होते हैं। ये कथन अनुभवकर्त्ता की विशेष अनुभूति पर आधारित होते हैं। विशेष अनुभूति पर आधारित होते हुए भी अनुभवकर्त्ता यह भाव रखता है कि इसका अनुमोदन सभी मानवों के द्वारा होना चाहिए। इस सार्वभौमिकता का कारण न संवेदन है, न प्रत्यय है, अपितु सभी मानवों में अनुभवात्मक शक्ति सामर्थ्य की समानता है। ये कथन 'तार्किक कथनों की तरह' सार्वभौम एवं अनुभव निरपेक्ष संश्लेषणात्मक होते है, लेकिन तार्किक कथनों में विषयनिष्ठ सार्वभौमिकता होती है, जबकि सौन्दर्यात्मक कथनों में आत्मनिष्ठ सार्वभौमिकता होती है।

(ब) सौन्दर्यविधान का आधार न तर्क होता है, और न ही बहुमत होता है। यदि किसी मनुष्य को कोई विषय सुन्दर नहीं प्रतीत होता है तो वह तर्क या बहुमत के आधार पर सुन्दर नहीं कहेगा।

(स) सौन्दर्यात्मक अनुभूति वाले कथन विषयनिष्ठ तार्किक कथन नहीं होते हैं। अतः न्यायवाक्य के माध्यम से सौन्दर्य का अनुमान नहीं हो सकता। सार्वभौमिक सौन्दर्य की संप्रेषणता के लिए कांट, बुद्धि की अपेक्षा संवेदनात्मक अनुभूति को अधिक महत्त्व देता है। जिसके द्वारा हम सौन्दर्य की अनुभूति करते हैं उसे कांट 'टेस्ट' कहता है। इसे हम सहृदयात्मक बुद्धि भी कह सकते हैं। 'टेस्ट' अनुभूत्यात्मक पहलू का वह द्वार है जो हमारी अनुभूति को प्रत्ययों के बिना ही सार्वभौम संप्रेषण की क्षमता से युक्त करता है। सार्वभौम संप्रेषण दो प्रकार से हो सकता है– बुद्धि के द्वारा और हृदय के द्वारा। हृदय, प्रत्ययों के व्यवहार के बिना ही अनुभव निरपेक्ष ढंग से संवदेनों को संप्रेषित करने की क्षमता रखता है। भारतीय वाङ्मय में न केवल साहित्य में अपितु धर्म और आत्मा के ज्ञान के क्षेत्र में भी हृदय की भूमिका महत्त्वपूर्ण मानी गयी है। मनु ने जिस धर्म को प्रकाशित किया है, वह न केवल बुद्धि से अपितु हृदय से भी जाना गया है। उपनिषदों में अनेक बार 'हृदा मनीषा' का व्यवहार हुआ है। श्वेताश्वतर उपनिषद् के व्याख्यान में आचार्य शंकर ने 'हृदा' का अर्थ 'शुद्ध–बुद्धि' किया है। मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि कांट ने 'टेस्ट' का प्रयोग मुख्यतः इसी अर्थ में किया है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

V. सौन्दर्यानुभूति का आनन्द लेने के लिए 'टेस्ट' या 'सहृदयता' पर्याप्त है। लेकिन सुन्दर कला के निर्माण के लिए असामान्य प्रतिभा (Genius) की आवश्यकता होती है। कलाकृति के दो प्रकार हैं– यांत्रिक कला तथा सौन्दर्यात्मक कला। सौन्दर्यात्मक कला के भी दो भेद हैं– मनोरंजनात्मक कला (Pleasent art) तथा ललित कला (Fine Art)। मनोरंजनात्मक कला का उद्देश्य क्षणिक सुख प्रदान करना है। खाने के टेबल पर बैठकर कोई व्यक्ति मनोरंजक कहानी से लोगों का चित्त बहलाता है। यह मनोरंजक कला का उदाहरण है। इस कला का रसास्वादन इंद्रिय भोग है। लेकिन ललित कला का रसास्वादन अनुचिंतनात्मक होता है। यह कलात्मक कृति इस प्रकार की होती है कि यह प्रकृति की कृति प्रतीत होती है। इस प्रकार की कला के निर्माण के लिए नियमों का विधान नहीं किया जा सकता है। प्रकृति असामान्य प्रतिभावान कलाकार के सृजित कला के माध्यम से निमय को व्यक्त करती है। कलाकार प्रकृति का वरद पुत्र होता है। यांत्रिक कला और विज्ञान के लिए असामान्य प्रतिभा की आवश्यकता नहीं होती है। क्योंकि वहाँ निर्माण पूर्वज्ञात नियम से संचालित होता है, लेकिन ललित कला के क्षेत्र में प्रतिभावन कलाकार की कृति नियम के मर्यादा का अतिक्रमण करती है। यहाँ कलाकार की कृति में प्रयोजन होता है, लेकिन प्रयोजन का स्वरूप अनिश्चित होता है। प्रतिभावान कलाकार की कृति को देखकर बुद्धि मूक हो जाती है, ऐसे कलाकार की मानसिक शक्ति में बुद्धि और कल्पना दोनों का उचित व्यवहार दिखाई पड़ता है, लेकिन कलाकार की कल्पना बुद्धि की संधि को मानते हुए भी इस प्रकार से सृजन करती है कि बुद्धि के प्रत्ययों के लिए द्वार बन्द होता सा दिखाई पड़ता है। अवर्णनीय होते हुए भी सार्वभौम संप्रेषण की क्षमता से युक्त होना प्रतिभावान् कलाकार के कला का विशिष्ट लक्षण है। इसी को कांट कला की आत्मा कहता है। इसके अभाव में कोई कला आत्मारहित निर्जीव शरीर मात्र होती है। आत्मा संवेदनों से संकुचित नहीं होती है; आत्मा अपने अनुचिंतात्मक सामर्थ्य से संवेदनों से अतीत होते हुए मानव मात्र को विभोर करने में समर्थ होती है। ऐसी आत्मा का दर्शन महान् कलाकारों की कृतियों में दिखाई पड़ता है। मानव हृदय की धड़कन में अद्भुत समानता है। महान् कलाकारों की कृतियाँ, सहृदय मानव के धड़कन को पकड़ लेती हैं। कांट ने कला के क्षेत्र में असामान्य प्रतिभा का जो विवेचन किया है वो प्लेटों की धारणा के

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

करीब है। प्लेटो भी मानता है कि कलाकार नैसर्गिक रूप से कला को जन्म देते हैं, उसे सचेतनात्मक व्यक्त ढंग से कला के नियमों का ज्ञान नहीं रहता हैं। प्लेटो इसे 'दैवीय पागलपन (Divine Madness) कहता है। लेकिन जहाँ प्लेटो इसे हेय दृष्टि से देखता है, वहीं कांट इसे आदर की दृष्टि से देखता है।

VI. सौन्दर्य का आलम्बन बनने वाले विषय परिच्छिन्न आकार वाले होते है; उदात्तभाव या भट्टाचार्यजी की शब्दावली में, महाभाव (Sublime) को अभिव्यक्त करने वाले विषय अपरिच्छिन्न आकार वाले होते हैं। कांट के अनुसार "महाभाव वह भाव है जो निरपेक्षतः वृहत् होता है (We call that *sublime* which is *absolutely great*)।" प्रसिद्ध ब्रिटिश राजनीतिज्ञ और लेखक एडमंड बर्क ने 1763 में On Sublime and Beautiful नाम की एक पुस्तक प्रकाशित की। कांट ने भांवनात्मक बुद्धि की परीक्षा में बर्क के विचारों का आदरपूर्वक उल्लेख किया है। बर्क अनुभववादी है; कांट प्रागनुभववादी है। लेकिन अनेक स्थलों पर दोनों में सहमति प्रतीत होती हैं। कांट बर्क की निम्नांकित मान्यताओं को सहमति प्रदान करते हैं–

(अ) न केवल ज्ञानात्मक क्षेत्र में, अपितु भावनात्मक या संवेगात्मक क्षेत्र को लेकर भी मानव जाति में अद्भुत सहमति है। कांट के अनुसार जहाँ असहमति दिखाई पड़ती है, वहाँ नोक–झोंक (Quarrel) है, विवाद (Controversy) नहीं है।

(ब) सुन्दरता वह गुण है जिसके कारण हम उस गुण के धारक से प्रेम करते हैं। प्रेम, लोभ से भिन्न है। लोभ में आकर्षण के कारण किसी विषय को प्राप्त करने की प्रबल भावना होती है। स्त्री–पुरुष के प्रसंग में प्रेम और लोभ दोनों मिले रहते हैं। इस प्रकार का प्रेम, रागात्मक प्रेम का उदाहरण है। शुद्ध प्रेम का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है। इस क्षेत्र के अन्तर्गत पशु, पक्षी, जड़ जगत् सभी का अन्तर्भाव हो जाता है। शुद्ध सौन्दर्यानुभूति मननात्मक अवस्था का प्रतीक है।

(स) सौन्दर्य के विषय परिच्छिन्न आकार वाले होते हैं; उदात्तभाव या महाभाव के विषय विस्तृत आकार वाले होते हैं। पुरानी अंग्रेजी भाषा में 'dar' के साथ 'ling' के प्रयोग का यही औचित्य था। 'ling' को ऐसे व्यक्तियों या विषयों के नाम के साथ जोड़ा जाता है, जिनसे हम प्रेम करते हैं। 'darling' का अर्थ है 'little dear'। बर्क का कथन ध्यान देने योग्य है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

माता–पिता अपने संतानों का नाम प्रेम के कारण छोटा कर देते हैं। इसके विपरीत राजा–महाराजा बड़े–बड़े नाम रखते हैं। बड़े–बड़े नाम रखने के पीछे मुख्य अभिप्राय यही रहता है कि मात्र उनके नाम के बृहदाकार के कारण ही लोगों में भय व्याप्त हो (Dread Majesty)। बर्क के अनुसार महाभाव के आश्रय वाले विषय समुद्री–तूफान, भूचाल, अँधेरी रात में बिजली का कड़कड़ना, सूनामी आदि हैं। महाभाव के आश्रित विषय इस प्रकार के होते हैं कि उनके उपस्थित होने पर मानव–बुद्धि इंद्रियों सहित विकल अवस्था में पहुँच जाती है तथा किं–कर्त्तव्यविमूढ़ हो जाती है। ईश्वर भी महाभाव का आश्रय है, क्योंकि वह असीम है। यद्यपि हम ईश्वर में अनेक शुभ भावों की कल्पना करते हैं लेकिन उसकी असीम शक्ति का आतंक और भय हमें अपने घेरे में लेने के लिए सक्षम होता है। सभी धर्मों के धर्मग्रंथों में ऐसी अनेक प्रार्थनाएँ हैं जो ईश्वर से यह विनय लिए हुई हैं कि वह हमें अपना रौद्र रूप न दिखाए।

कांट ने बर्क के विचारों का अनुमोदन कुछ संशोधनों के साथ किया है। बर्क अनुभववादी है; कांट प्रागनुभववादी है। कांट, बर्क की तरह यह स्वीकार करते हैं कि शुद्ध सौन्दर्यात्मकता का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है; यह अनुभूति मानव को एक बृहत् समाज का अंग बनाती है। लेकिन जहाँ बर्क सौन्दर्य और महाभाव को एक ही कोटि में नहीं रखते हैं, वहीं कांट दोनों को एक ही कोटि के विभिन्न प्रकारों में देखने के पक्षधर हैं। बर्क के अनुसार सौन्दर्य और महाभाव का आधार मानव–स्वभाव में पाये जाने वाले दो पृथक्–पृथक् संवेग हैं। सौन्दर्य का आधार सामाजिक संवेग (Social-impulse) है। सौन्दर्यानुभूति हमें एक बृहत–समाज के सदस्य के रुप में प्रतिष्ठित करती है; महाभाव का कारण–स्वसुरक्षा की सहज प्रकृति (Instinct of self-preservation) है। भयावह घटनाओं की उपस्थिति अपने जीवन को सुरक्षित करने की दिशा में राह पाने के लिए हमें विवश करती है। कांट महाभाव का विवेचन एक–दूसरी दृष्टि से करते हैं जिसका आधार मुख्यतः नैतिक है।

कांट ने महाभावात्मक विषयों को दो भाग में विभाजित किया है–परिमाणात्मक महाभावात्मक विषय (Mathematically Sublime) तथा चरात्मक महाभावात्मक विषय (Dynamically Sublime) प्रथम का उदाहरण– समुद्र, विशाल पर्वत चोटियाँ, तारों से भरा आकाश आदि हैं।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

द्वितीय का उदाहरण– भूचाल, समुद्रीतूफान, उल्कापात् सूनामी आदि हैं। महाभावात्मक वह है जो निरपेक्षतः बृहत् या महान् है। कांट सौन्दर्यात्मक या प्रत्यक्षात्मक ग्रहण (Comprehensio Aesthetica) और तार्किक ग्रहण (Comprehensio logica) में भेद करते हैं। महाभाव को गणितीय रूप से उसके ग्रहण करने में कठिनाई नहीं है। कठिनाई प्रत्यक्षात्मक रूप से ग्रहण करने में है। जब हम बृहदाकार किसी मूर्ति को पास से देखते हैं तो उसका शीर्ष भाग ठीक से दिखाई नहीं पड़ता है, जब दूर से देखते हैं तो मूर्ति स्पष्टतः दिखाई नहीं पड़ती है। अतः बृहदाकार विषयों का ग्रहण असीमता के कारण प्रत्यक्षतः अग्रहणीय प्रतीत होता है।

यह प्रश्न हो सकता है कि प्राकृतिक उपसर्गों जैसे समुद्री तूफान, भूचाल आदि को महाभावात्मक–विषय क्यों कहा जाता है? कांट के अनुसार इन्हें महाभावात्मक इसलिए कहा जाता है कि ये अपनी भयकारी उपस्थिति से हमारे अंदर छुपी हुई प्रज्ञा की उस शक्ति से परिचय करा देते हैं जिसके समक्ष हमको परास्त करने वाले प्राकृतिक उपसर्ग छोटे दिखाई पड़ते हैं। इसलिए महाभाव, यथार्थतः, प्राकृतिक पदार्थ में स्थित भाव नहीं है, अपितु मानव की बुद्धि में स्थित भाव है।

महाभाव की अनुभूति दुःखात्मक और सुखात्मक दोनों प्रकार की होती है। दुःखात्मक इसलिए कि महाभावात्मक विषय अपनी विराटता तथा भयानकता से संवेदनात्मक प्राणी के रूप में हमें परास्त कर देते हैं। सुखात्मक, इसलिए कि वे हमें अपने प्रज्ञात्मक बल से परिचय कराते हैं, जिसके समक्ष प्राकृतिक विराटता का कद छोटा दिखाई पड़ता है। अतः महाभाव के विषय निषेधात्मक रूप से उपयोगी होकर हमें संतुष्टि प्रदान करने हैं; सौन्दर्यात्मक विषय भावात्मक संतोष देते हैं।

कांट का निष्कर्ष अस्वाभाविक नहीं है। संबन्ध के एक संबन्धी का स्मरण होने पर दूसरे का भी स्मरण हो जाता है। रावण का स्मरण होने पर राम का भी स्मरण हो जाता है। अनेक साधु पुरूषों को मृत्यु की उपस्थिति होने पर परमात्मा का स्मरण हो जाता है। कांट ने जिन घटनाओं का उल्लेख महाभाव के आलंबन के रूप में किया है, भारतीय साहित्य की दृष्टि से, उन्हें रौद्र, भयानक या अद्भुत रस के आलम्बन के रूप में देखा जा सकता है। ये आलम्बन सामान्यावस्था में हमारे में उत्पन्न होने वाले क्रोध, भय और आश्चर्य गर्भित स्थायी भावों के ही उत्प्रेरक होंगे। लेकिन यदि हमारी

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

भावाभिव्यक्ति यहीं तक समाप्त हो गयी तो, कांट के अनुसार, हम महाभाव की भूमि में जाने से वंचित हो जाते हैं।

कांट के अभिप्राय को समझने के लिए महाभारत में वर्णित एक कथानक का उल्लेख प्रासंगिक होगा। अर्जुन ने कृष्ण से गीता को पुनः सुनाने का आग्रह किया। भगवान् कृष्ण ने कहा कि उस समय मैंने अत्यंत योगयुक्तचित्त से उपदेश दिया था। इस समय यह संभव नहीं है (भगवान् के लिए सब संभव है लेकिन मानवीय लीला करते हुए मानव को शिक्षा देने के लिए ऐसा कह रहे हैं)। अतः मैं तुम्हें दूसरे प्रकार से शिक्षा देता हूँ। इस प्रकार भगवान् ने अर्जुन की अनुगीता सुनाई।

महाभारत युद्ध में भाग लेने वाले अनेक वीरों के मन में अलग–अलग भाव रहे होंगे। किसी में वीर रस प्रधान भाव, किसी में रौद्र रस और किसी में करुण रस। जिस–जिस योद्धा का भाव इन रसों के भावों से अभिसिक्त होने के कारण यहीं तक रूक गया वे महाभाव में प्रवेश करने से वंचित हो गये। लेकिन इस विषम परिस्थिति में भगवान् कृष्ण का चित्त योगयुक्त–साम्यावस्था में था। ऐसी चित्त की अवस्था ही महाभाव के भोग की अवस्था है। भारतीय दर्शन की दृष्टि से स्थितप्रज्ञ की अवस्था ही महाभाव के भोग की अवस्था है। अतः युद्ध को इस महाभाव को प्रगट करने के साधन के रूप में देखा जा सकता है।

कांट इसी दृष्टि से भयकारक घटनाओं को महाभाव के विषय के रूप में चित्रित करता है। कांट का स्वर बिल्कुल स्पष्ट है। भयानक और आश्चर्यजनक घटनाओं को महाभाव के विषय के रूप में इसलिए कल्पित किया गया है क्योंकि वे महाभाव में जाने के लिए सुअवसर प्रदान करती हैं। वे स्वयं प्रयोजन रहित हैं, लेकिन अनुभवकर्त्ता उनका उपयोग महाभाव को उत्पन्न करने वाले कारण के रूप में लेता है। अतः आत्मनिष्ठ दृष्टि से वे प्रयोजनात्मक हो जाती हैं। इस प्रकार बर्क और कांट के दर्शन में महाभाव को लेकर वैमत्य है।

कांट के अनुसार सौन्दर्यानुभूति चित्त की सात्त्विक मनन की अवस्था (Restful comtemplation) में होती है, तथा महाभाव की अनुभूति सम्यक् मनन (Rational contemplation) में होती है। सात्त्विक अवस्था में मन शान्त रहता है; सम्यक् मनन की अवस्था में चित्त सुविचार करता रहता है। इस प्रकार गीता जहाँ महाभाव की स्थिति साम्यावस्था में पाती है, वहाँ

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

कांट महाभाव की स्थिति प्रयासशील मननात्मक प्रज्ञा में पाता है। सम्यक् मनन के लिए प्रज्ञा को समझना पड़ता है कि प्रकृति देश–काल में परिमित आभास मात्र है। मानव में संकल्प स्वातंत्र्य है। इस स्वतंत्र–कारणता पर प्रकृति के कारणता का वश नहीं चलता है। इस स्वतंत्र कारणता के बल से हम प्रकृति के दबावों से मुक्त होकर निरपेक्ष आदेश के बल के आगे प्रकृति को नतमस्तक कर पाते हैं। कांट के अनुसार स्वतंत्रता का यह भी अर्थ है– 'प्रकृति के द्वारा इंद्रियों पर पड़ने वाले दबाव से मुक्त होना।' प्रकृति किसी मानव को परास्त कर सकती है, लेकिन मानवता को परास्त नहीं कर सकती है। निरपेक्ष नैतिक नियम हमें अपने स्वातंत्र्य की प्रत्यभिज्ञा कराने में समर्थ हैं। कांट के अनुसार यहूदीयों के दश प्रमुख आदेशों में से सबसे प्रमुख आदेश वह है जो यह कहता है कि 'तू अपने लिए कोई मूर्ति खोदकर न बनाना, न ही किसी की प्रतिमा बनाना जो आकाश में, वा पृथिवी पर, वा पृथिवी के जल में है।' कांट के अनुसार यही आदेश उन्हें अन्यों से पृथक् करता है क्योंकि उन्होंने समझ लिया कि जो तत्त्व उनके अंदर है या जिसके साथ उनका संबन्ध है, वह प्राकृतिक पदार्थों से उपर है तथा उसका निरूपता प्राकृतिक विषयों से संभव नहीं है। कांट इसे नैतिक तत्त्व के रूप में लेता है। लेकिन कोई भी रहस्यवादी चिंतक को उस आत्मा की प्रत्यभिज्ञा, उन महाभावात्मक विषयों से, हो सकती है जो अणु से भी अणु और महान् से महान् होकर भी मानव के अंदर है। कांट में महाभावात्मक विषय नैतिक नियम की तरफ संकेत करते हैं; भगवद्गीता में आत्मतत्त्व की तरफ। लेकिन यदि भट्टाचार्य जी की व्याख्या को मानते हैं तो कांट के दर्शन में भी महाभावात्मक विषय आत्मतत्त्व की तरफ संकेत करते हैं। कृति कर्त्तव्य कर्म अनुपालन में ही, कांट के अनुसार आत्मा को ज्ञान होता है। कृति परीक्षा में उन्होंने कहा है कि, 'विधिपालन रूप स्वतंत्र–कृति में ही कृत्यात्मक शुद्ध आत्मा का और विधि का युगपद् ज्ञान होता है।'' अतः कांट के दर्शन में भी महाभाव का अंतिमलक्ष्य आत्म–दर्शन है।

भावनात्मक बुद्धि का मूलमंत्र यदि प्रयोजनता नहीं होता तो वह महाभाव की अनुभूति तक नहीं पहुँच पाती। वह करुण, रौद्र, भयानक और वीर रस आदि की अनुभूति में निमग्न होकर प्रकृति के पाश में उलझ जाती। प्रयोजनता के कारण ही भावनात्मक बुद्धि स्वाभाविक रसानुभूति की बाधा को अतिक्रमण करती हुई महाभाव के द्वार को खट्खटा देती है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

सौन्दर्यानुभूति और महाभावानुभूति दोनों में प्रयोजनता होती है। सौन्दर्यानुभूति में बिना प्रयोजन के प्रयोजनता (Purposiveness without any purpose) होती है। कांट के अनुसार प्रकृति के सौन्दर्य में आनन्द लेने का स्वभाव नैतिकता का लक्षण है। महाभावात्मक विषयानुभूति निषेधात्मक प्रयोजन लिए रहती है। इन विषयों पर सम्यक् मनन करने वाली प्रज्ञा यह समझ लेती है कि महाभाव का उत्स हमारे अंदर है। शापेनहावर के अनुसार कांट के द्वारा महाभाव का विवेचन 'सौन्दर्यात्मक भावना' के विवेचन का सबसे उत्कृष्ट पहलू है।

VII. कांट ने 1764 में करीब 40 पृष्ठ की एक छोटी पुस्तक प्रकाशित की जिसका शीर्षक था सुन्दर और उदात्त की संवेदना पर पर्यवेक्षणाएँ (Observations on the Feeling of Beautiful and Sublime) इस पुस्तक की प्रशंसा महाकवि गेटे ने भी की थी। इस पुस्तक का उद्देश्य भावनात्मक बुद्धि की आलोचना से भिन्न है। इन दोनों पुस्तकों के सम्बन्ध पर तथा प्रथम पुस्तक के विषय पर भी कुछ कहना आवश्यक प्रतीत होता है।

सुन्दर और उदात्त की संवेदना पर पर्यवेक्षणाएँ नामक पुस्तक में चार खंड है। प्रथम खंड में सुन्दर और उदात्त की संवेदना के विषयों में भेद किया गया है; द्वितीय खंड में मानवीय क्षेत्र के प्रसंग में इन दोनों का विवेचन किया गया है, तृतीय खंड में स्त्री–पुरुष के लिंग भेद के आधार पर सुन्दर और उदात्त की संवेदना का विवरण है तथा चतुर्थ में विभिन्न राष्ट्रों के राष्ट्रीय संदर्भों में इनका विवेचन है।

प्रथम खंड के प्रारम्भ में ही कांट ने यह स्पष्ट किया है कि उसका उद्देश्य अत्यंत सीमित है। वे सुन्दर और उदात्त की संवेदना का विवेचन इन्द्रियात्मक क्षेत्र के ही दायरे में एक निरीक्षणकर्त्ता की दृष्टि से करना चाहते हैं, दार्शनिक की दृष्टि से नहीं। इस क्षेत्र में भी तीन प्रकार के विषय संभावित हैं– अविचारित रमणीय, विचारित–रमणीय और सुविचरित रमणीय। इस पुस्तक का उद्देश्य केवल द्वितीय प्रकार के विषयों के संदर्भ में सुन्दर और उदात्त के संवेदना का विवेचन करना है; यहाँ उस संवेदना पर दृष्टिपात करना है जहाँ संवेगों में कुछ नैतिकता का भाव रहता है। विशुद्ध अभद्र संवेदना का विवेचन अभिष्ट नहीं है। इसी प्रकार अत्यंत आदर्शवादी बौद्धिक संवेदनाएँ भी इस क्षेत्र से बाहर हैं। यह ग्रंथ मानव–शास्त्र की दृष्टि से एक अत्यंत उत्कृष्ठ ग्रन्थ है। दार्शनिक दृष्टि से सुन्दरता का विवेचन

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

लिङ्ग भेद और देश भेद के आधार पर नहीं किया जा सकता है। भावनात्मक बुद्धि की परीक्षा में कांट ने स्पष्ट किया है कि जब किसी पदार्थ को सुन्दर कहते हैं तो उसके अंदर यह अभिप्राय छुपा रहता है कि इसका अनुमोदन सभी मानवों के द्वारा होगा। लेकिन यदि लिङ्गभेद और राष्ट्रभेद के द्वारा सुन्दरता को मापेंगे, तो ऐसा संभव नहीं होगा। इसको अतिरिक्त उदात्त और सुन्दर का जिस प्रकार यहाँ भेद किया गया है, वह भावनात्मक बुद्धि की परीक्षा से भिन्न है। यहाँ यह कहा गया है कि सुन्दर और उदात्त दोनों की संवेदना की संगति विषय के साथ होती है। अर्थात् दोनों भावात्मक होते हैं; लेकिन भावनात्मक बुद्धि की परीक्षा में यह कहा गया है कि सुन्दर की संवेदना भावात्मक तथा उदात्त की संवेदना निषेधात्मक होती है। जिस प्रकार से उदात्त का भेद भावनात्मक बुद्धि की परीक्षा में किया गया है, उस प्रकार का भेद यहाँ नहीं किया गया है। सुन्दर का विषय परिच्छिन्न है, उदात्त का विषय अपरिछिन्न है– इस कथन को मान्यता दी गयी है लेकिन दार्शनिक रूप से इसको आधार नहीं बनाया गया है जैसा की भावनात्मक बुद्धि की आलोचना में दिखाई पड़ता है। भावनात्मक बुद्धि की मीमांसा में कांट का विवेचन बर्क के अधिक समीप है। यद्यपि बर्क की पुस्तक, कांट की पुस्तक 'सुन्दर और उदात्त की संवेदना पर्यवेक्षणाएँ' से पहले प्रकाशित हुई थी, लेकिन इस पुस्तक का प्रभाव भावनात्मक बुद्धि की परीक्षा में अधिक स्पष्ट दिखाई पड़ता है। प्रयोजनता का विचार जो भावनात्मक बुद्धि परीक्षा में मुख्य आधार है, यहाँ नहीं पाया जाता है। मनन (Contemplation) शब्द का प्रयोग कांट ने भावनात्मक बुद्धि की परीक्षा में सबसे अधिक किया है; इस शब्द के व्यवहार का यहाँ अभाव है। लेकिन दोनों में साम्यता यह है कि कांट यहाँ भी सुन्दरता और उदात्त के उसी स्वरूप को अधिक ग्राह्य मानता है जिसमें सार्वभौमिकता है तथा जिसकी संगति नैतिकता के साथ है।

सुन्दर और उदात्त की संवेदना पर पर्यविक्षणाएँ में अनुभवात्मक टिप्पणीयों की प्रधानता है; अतः इसमें रस अधिक है। कोमल, सुकोमल, संवेगात्मक भावों को सुन्दर कहा गया है तथा कठोर, बौद्धिक, सैद्धान्तिक भावों को उदात्त के साथ जोड़ा गया है। अग्राम्य संवेदनाएँ दो प्रकार की हो सकती हैं– सुन्दर और उदात्त। उदात्त की संवेदना संतुष्टि प्रदान करती है, लेकिन भयकारी होती है; सुन्दर की संवेदना आह्लादकारी तथा मुस्कुराहट लिए रहती हैं। उदात्त छू लेता है, सुन्दर आकर्षित करता है। रात उदात्त है,

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

दिन सुन्दर है। उदात्त के तीन भेद हैं– भयकारी उदात्त (Terrifying Sublime)), महान् (Noble) तथा भव्य (Magnificen))। उदात्त विस्तृत होता है, सुन्दर छोटा होता है। बहुत अधिक ऊँचाई और गहराई दोनों उदात्त हैं, लेकिन प्रथम महान है तथा द्वितीय भयकारी उदात्त है। रोम का सेंट पीटर भव्य उदात्त का उदाहरण है।

मानव के गुण, कर्मों और धर्मों का विवेचना भी इन दोनों संवेदनाओं के माध्यम से संभव है। मित्रता उदात्त है, यौन प्रेम सुन्दर है। दुःखान्तकृति उदात्त है, सुखान्त सुन्दर है। समझ उदात्त है, प्रत्युत्पन्न–मति सुन्दर है। मानवीय सद्‌गुणों के ऊँच–नीच रूप भी देखे जाते हैं। भयकारी उदात्त अपने नीच रूप में दुःसाहसिक उदात्त (Adventurous) है। अप्राकृतिक और काल्पनिक पदार्थों में उदात्त का अन्वेषण, अप्राकृतिक उदात्त (Grotesqueries) है। यदि किसी में महान् की संवेदना समाप्त होती हुई जान पड़ती है, तो उसे व्यर्थ हास्यास्पद (Ridiculous) कहा जा सकता है। यदि ये धर्म पुरुष में हों तो उसे ढोंगी (Dandy) और मध्यम आयु वाले में हो तो दिखावटी (Fap) कहा जा सकता है। जिस मनुष्य में रस बोध नहीं है, उसे मूर्ख (Fool) कहा जायेगा।

साहसपूर्वक अधिकार के लिए, देश के लिए या मित्र के लिए लड़ाई करने वाले को उदात्त कहा जायेगा। प्राचीन काल के राजाओं के धर्मयुद्ध, साहसिक उदात्त के उदाहरण हैं। जगत् की व्यवस्था से खिन्न होकर विरक्त होना महान उदात्त है। सिद्धान्तों के माध्यम से संवेगों को रोकना उदात्त है तथा व्रत, उपवास आदि से रोकना अप्राकृतिक उदात्त है।

जगत् के अनन्त विस्तार को गणितीय विधि से समझना, अध्यात्मिक तत्त्वों जैसे आत्मा, अनन्त जीवन, करुणा आदि का विचार उदात्तपूर्ण एवं सराहनीय है। दर्शन को दुष्ट तर्कों के प्रयोग से दूषित करना, न्याय वाक्यों के जाल में फँसना उटपटांग अप्राकृतिक उदात्त है।

नैतिक गुणों में, सत्य, सद्‌गुण स्वयं उदात्त हैं। सद्‌गुणों के दो प्रकार हैं– वास्तविक सद्‌गुण (Genuine Virtue) तथा कार्यकारी सद्‌गुण (Adopted Virtue)। प्रथम उदात्त एवं सम्मानीय है तथा द्वितीय सुन्दर और आकर्षक है। वास्तविक सद्‌गुण सिद्धान्त के बिना व्यवस्थित नहीं हो सकते है। ये सिद्धान्त कल्पनात्मक (Speculative) नहीं हैं, अपितु प्रत्येक मानव के हृदय की संवेदना के आकार के रूप में रहते हैं। इनको यदि एक सूत्र में

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

कहना हो तो इसे मानव स्वभाव की सुन्दरता और सम्मान की संवेदना कह सकते हैं। सद्गुण की प्रतिष्ठा यदि संवेदना से नियंत्रित है तो इसमें उतार–चढ़ाव संभव है। किसी पति का पत्नी के प्रति प्रेम का भाव यदि मात्र उसकी सुन्दर स्वरूप या चंचल स्वभाव पर आश्रित है तो उम्र के साथ सुन्दरता में कमी आने पर उसमें उतार आ जायेगा। लेकिन यदि उसका प्रेम उससे पत्नी होने के कारण है, तो उसमें उतार आने की संभावना नहीं है।

कांट ने स्वभाव के आधार पर चार प्रकार के अग्राम्य मानवों का वर्गीकरण किया है– सबकी सुनने वाला तथा शीत स्वभाव वाला (Phlegamatic), उदासीन तथा संयमी (Melancholic), भावुक (Sanguine) तथा सम्मान प्रिय (Choleric)। शीत स्वभाव वाला उत्तेजित नहीं होता है तथा सबकी इच्छा को प्रधानता देता है, सबको मिलाकर रखता है, लेकिन उसमें नैतिक संवेदना का दर्शन स्पष्ट दिखाई नहीं पड़ता है। सम्मान प्रिय केवल सम्मान पाने के लिए ढोंगपूर्ण व्यवहार करता है। भावुक सर्वदा अपनी सहृदयता दिखाने के लिए तत्पर रहता है, लेकिन संवेदनाओं के अस्थिर होने से वह एक बुरा संत है। उदासीन में क्षुब्धता का भाव छुपा रहता है, लेकिन वह संयमी होता है। वह दूसरों की आलोचनाओं से प्रभावित नहीं होता है। जब उसके स्वभाव में किसी कारण से विकृति आती है तो वह हिंसक भी हो जाता है, ऐसी स्थिति में वह दुःसाहसिक अप्राकृतिक उदात्तता की ओर अग्रसर हो जाता है। सम्मान प्रेमी में उदात्त का भव्यरूप होता है तथा वह आडम्बर के द्वारा अपना सम्मान सुरक्षित रखने का प्रयास करता है। कांट के अनुसार भावुक तथा उदासीन एक दूसरे के विपरीत स्वभाव वाले होते हैं। इसी प्रकार सम्मान प्रेमी तथा शीत स्वभाव वाले की भी स्थिति है। भावुक और आत्मसम्मानी एक दूसरे को अप्रभावकारी कर देते हैं; इसी प्रकार उदासीन और शीत स्वभाव वाले भी एक दूसरे को अप्रभावकारी कर देते हैं।

कांट इस तथ्य से परिचित है कि बहुत कम मानव ऐसे हैं जो सिद्धान्ततः नैतिकता से संचालित होते हैं क्योंकि यहाँ गड़बड़ी हो सकती है। संवेगों के कारण नैतिकता का प्रवाह ही अधिकांश मानवों में दिखाई पड़ता है। जो कार्य पशु जगत् में सहज–प्रवृत्ति के कारण होता है, वही कार्य प्रकृति संवेगों के माध्यम से मानव में कराती है। अंत में कांट स्व–सम्मान की उपादेयता को स्वीकार करता है। जॉन डेवी ने इसे नैतिकता का मुख्य

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

आधार माना है। कांट के अनुसार दूसरों की दृष्टि में अच्छा लगने का प्रयास यदि सीमा से अधिक है, तो त्याज्य है। लेकिन अन्य संवेदनाओं के सहयोगी के रूप में इसका वही महत्त्व है जो शिखण्डी का महत्त्व महाभारत के युद्ध में अर्जुन को अपना लक्ष्य दिलाने में है। सम्मान प्रेमी दूसरे की दृष्टि में सद्‌गुणी होने का प्रयास करता है। इस प्रकार सभी व्यक्तियों के सामूहिक प्रयास से तथा दूसरे के सोच को महत्त्व देने की प्रक्रिया से एक ऐसे समाज का निर्माण होता है जहाँ विभिन्नता में एकता वैसे ही भव्य प्रतीत होती है, जैसे कोई भव्य चित्र। इस प्रकार आत्मसंम्मान मानव समाज को भव्य उदात्त के माध्यम से एक सूत्र में पिरोने का कार्य करता है।

स्त्री और पुरुष में भेद को स्पष्ट करते हुए कांट ने स्त्री को सौन्दर्य की मूर्ति (Fair sex) माना है तथा पुरुष को महानता की (Noble sex)। यद्यपि दोनों में दोनों भाव होते हैं; लेकिन, पुरुष की परिपूर्णता महानता में है, तथा स्त्री की परिपूर्णता सुन्दरता की अभिव्यक्ति में है। स्त्री की बुद्धि, सुन्दर बुद्धि है; पुरुष की बुद्धि, गम्भीर बुद्धि है। पुरुष का सबसे अधिक असम्मान तब होता है जब उसे बकवासी (Riduculous) कहा जाता है; स्त्री का सबसे अधिक असम्मान तब होता है जब उसको फूहर या अरुचिकरी (Disgusting) कहा जाता है। स्त्रीयों को कठिन विषयों में परिश्रम नहीं करना चाहिए। इससे उनकी सुन्दरता की अभिव्यक्ति की शोभा घटती है। यदि ऐसे विषयों में श्रम करती है तो, कांट व्यंग करते हुए कहता है, उन्हें दाढ़ी भी रखनी चाहिए। स्त्री का सद्‌गुण सुन्दर है। वह गलत इसलिए नहीं करती हैं कि ऐसा करना अन्याय है, या नैतिक आदेश का उल्लंघन है; अपितु इसलिए करती है कि ऐसा करना असुन्दर (Ugly) है। वे प्रेम के वशीभूत होकर ऐसा करती हैं तथा उनकी कला की परिपक्वता इसमें होती है कि वह समझाती है कि जिससे वह प्रेम करती हैं, वह शुभ है। उसकी बहुत सारी कमजोरी भी सुन्दर कमजोरी (Beautiful faults) हैं। यदि किसी स्त्री की मुखमुद्रा तथा भाव–भंगिमा अनैतिक हो, शरीर से सुन्दर हो, लेकिन सहृदय न हो तो उसे रमणीया (Pretty) कहा जायेगा। लेकिन सुन्दरता के साथ उसकी भाव भंगिमा में नैतिकता हो तथा सहृदया हो तो उसे मुग्धा (Charming)) कहा जायेगा। तुर्क, अरब और पर्सिया के निवासी रमणीया कन्याओं का उपयोग अपनी निवासीयों का रंग बदलने के लिए करते हैं तथा हिन्दू व्यापारी स्वदेश के धन–पशुओं से प्राप्त धन के बल पर उन्हें खरीद कर उन्हें बेच देते हैं तथा धन कमाते हैं।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

स्त्री और पुरुष की स्वार्थ संवेदना और परार्थ संवेदना में भी भेद है। स्त्री अपने लिए सुन्दर की संवेदना चाहती है और पुरुष में महानता की संवेदना देखना चाहती है। इसके विपरीत आदर्श पुरुष स्व में महानता की संवेदना तथा स्त्री में सुन्दरता की संवेदना देखना चाहता है। पुरुष का मंत्र है कि यद्यपि तुम मुझसे प्रेम नहीं करती हो लेकिन मैं तुझे अपना सम्मान करने के लिए विवश कर दूँगा। उसी प्रकार आदर्श स्त्री का स्वर होना चाहिए कि यद्यपि तुम मुझे सम्मान नहीं देते हो, लेकिन मैं तुझे मुझसे प्रेम करने के लिए प्रेरित कर दूँगी। वैवाहिक जीवन में विवाहित युग्म का प्रकार्य एक इकाई के रूप में होना चाहिए जिसमें पुरुष की समझ और स्त्री की रूचि का समन्वय हो।

कांट के अनुसार, प्रकृति ने स्त्री के गठन में पुरुष की अपेक्षा अधिक कला दिखाई है। स्त्री मात्र पुरुष की अपेक्षा नहीं है, अपितु प्रकृति का लक्ष्य है; प्रकृति ने स्त्री को मधुर भावनाओं, वाणी की कला तथा नम्रता, सुन्दर मुख–मुद्रा आदि से इसलिए विभूषित किया है कि इनके माध्यम से वह मानव में सामाजिकता और उत्तरदायित्व के बोध को जागृत रख सके।

कांट ने जो स्त्री और पुरुष के स्वरूप के विषय में टिप्पणी की है, वह भारतीय ज्योतिषशास्त्र की दृष्टि से समझी जा सकती है। आदर्श स्त्री में चन्द्र–बल की प्रधानता होनी चाहिए, आदर्श पुरुष में सूर्य–बल की। चन्द्रमा का संबन्ध मधुर भावनाओं से है तथा सूर्य का सम्बध उदात्त भावनाओं से। अतः कांट की टिप्पणी अस्वाभाविक नहीं है। वराहमिहिर ने बृहत्संहिता में मनु का उल्लेख करते हुए यह दिखाने का प्रयास किया है कि स्त्री के गुण पुरुषों से अधिक हैं (गुणाधिकास्ते मनुनापि चोक्तम्)। जो लोग वैराग्य मार्ग का आश्रय लेकर स्त्री–निन्दा करते हैं, उन्होंने उसने दुर्जन कहा है। बाइबिल के अनुसार ईश्वर ने स्त्री को पुरुष की छाती की पसली से बनाया है। पाश्चात्य दर्शन में परमेश्वर ने स्त्री के गठन के लिए पुरुष का उपयोग उपादान कारण के रूप में किया है। अतः, यह कहने में कोई हानि नहीं है कि आकारिक आधार पर ईसाई दर्शन की दृष्टि से भी स्त्री, पुरुष की अपेक्षा विशिष्ट है।

कांट ने सुंदरता और उदात्तता की संवेदना का भेद राष्ट्रीय आधार पर भी किया है। उसके अनुसार इटली और फ्रेंच के निवासी सुन्दर की संवेदना रखते हैं, लेकिन जर्मन, ब्रिटिश और स्पेन निवासी उदात्त की

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

संवेदना रखते हैं। हालैंड में इस प्रकार की संवेदना का अभाव है। यूरोप के बाहर के दृश्य पर विचार करें तो अरबों में उदात्त की संवेदना महानता अथवा साहस के रूप में दिखाई पड़ती है, पर्सिया वाले एशिया के फ्रेंच हैं तथा जापानी ब्रिटिश वालों के सदृश हैं। भारतीय मुख्यतः अप्राकृतिक उटपटांग पदार्थों (Grotesqueries) में उदात्त को खोजते हैं। विभिन्न प्रकार की विचित्र मूर्तियों की पूजा करते हैं, हनुमान वानर की पूजा करते हैं तथा फकीरों को मानते हैं। वे स्त्रीयों को जलाते हैं; चीनवासियों में भी अप्राकृतिक तत्त्व हैं लेकिन भारतीयों से कम। तिब्बत वाले भी अशुचि पदार्थों को महत्त्व देते है। दलाईलामा के शौच को पूजते हैं, उनकी हड्डी आदि की पूजा करते हैं, अतः उन्हें भी भारतीयों की कोटि में रखा जा सकता है।

कांट ने अपने दीर्घकाल के दार्शनिक जीवन में मानव को समझाने का निरंतर प्रयास किया। भौतिक भूगोल प्रकृति को समझने के लिए तथा मानवशास्त्र (Anthropology) मानव को समझने के लिए, कांट के अनुसार, अत्यंत महत्त्वपूर्ण शास्त्र हैं। इनका अध्ययन मानवीय जीवन को समझने के लिए अत्यंत आवश्यक है। कांट ने अपने खाली समय में 1772–1796 तक जाड़े के दिनों में मानवशास्त्र पर जो व्याख्यान दिए, उसके आधार पहली बार एक पुस्तक 1798 में प्रकाशित हुई। मानवशास्त्र, कांट के अनुसार, दो प्रकार से संभव है– शारीरिक ज्ञान की दृष्टि से तथा व्यावहारिक दृष्टि से। कांट का उद्देश्य व्यावहारिक दृष्टि से मानवशास्त्र की विधा को विकसित करना था। व्यावहारिक दृष्टि से मानवशास्त्र का उद्देश्य मानव के कर्मों को स्वतंत्र कर्त्ता की दृष्टि से समझना है। मानव की स्वतंत्रता से अभिव्यक्त हुए मानव के स्वरूप को समझने के लिए– विश्व इतिहास, महापुरुषों की जीवन गाथाएँ, नाटक और उपन्यासों को भी साधन के रूप में लिया जा सकता है। ये मानवीय स्वरूप को समझने के लिए स्रोत नहीं है, लेकिन मानव को समझने में इनकी महत्त्वपूर्ण भूमिका को नकारा नहीं जा सकता है। अतः हम कह सकते हैं कि इस पुस्तक में जो लिंग–भेद के आधार पर या राष्ट्रीय आधारों पर जो मानव को समझने का प्रयास किया गया है, उसका मूल उद्देश्य मानव को व्यावहारिक मानव–शास्त्र की दृष्टि से समझना है। कांट के विचारों का सम्यक् मूल्यांकन के लिए दार्शनिक दृष्टि के अतिरिक्त मानवशास्त्रीय दृष्टि से भी ध्यान देना आवश्यक है, क्योंकि अपने जीवन के सांध्यकाल में अपने व्याख्यानों के माध्यम से व्यावहारिक मानवशास्त्र को

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

नयी विधा के रूप में प्रतिष्ठित करने के लिए वे सदैव प्रयत्नशील थे। कांट की इस पुस्तक को इसी दृष्टि से देखना चाहिए।

मानव जानवरों की तरह मात्र सहज–प्रवृत्ति से नहीं जीता है। अधिकांश मानव–समाज का व्यवहार बौद्धिक भी नहीं होता है। अधिकांश मनुष्य भावना, संवेग प्रपंच, अर्धचेतना आदि की अवस्था में होते हुए भी इतिहास को गति देने में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं। व्यावहारिक मानवशास्त्र में यह भी समझने का प्रयास किया जाता है कि अधिकांश मानवों को वक्र रास्ते से ले चलने में प्रकृति का क्या उद्देश्य है?इस दृष्टि से कांट के द्वारा किया गया पर्यवेक्षण हमारा सहायक बन सकता है।

VIII. प्रयोजनता का वर्गीकरण करते हुए यह प्रदर्शित किया गया है कि आत्मनिष्ठ आकारिक प्रयोजनता के दो भेद हैं– तार्किक तथा सौन्दर्यात्मक। सौन्दर्यात्मक प्रयोजनता का उपर वर्णन किया गया है। तार्किक प्रयोजनता के विषय में भी कुछ कहना अपेक्षित प्रतीत होता है। कांट ने शुद्ध–बुद्धि की परीक्षा में शुद्ध–विज्ञान की संभावना के शर्तों का प्रतिपादन किया है। विज्ञान निरंतर प्रगतिशील है। अनेक क्षेत्रों में हो रहे अनुसंधान नये प्रश्नों और नये निष्कर्षों को जन्म दे रहे हैं। इन क्षेत्रों में अनेक संश्लेषणात्मक कथन होते हैं। यहाँ हमें मात्र विशेषों की प्राप्ति होती है। भावनात्मक बुद्धि यहाँ विशेषों के लिए सामान्य का अन्वेषण करने के लिए प्रवृत्ति होती है तथा अनुचिंतनात्मक कथनों को जन्म देती है। जहाँ पूर्वज्ञात सामान्य विकल्पों में यदि विशेष का अंतर्भाव करते हैं, जैसे शुद्ध बुद्धि की मीमांसा में, तो कथन वैकल्पिक *(Determinant)* होते हैं, लेकिन जहाँ विशेष के ज्ञान से तुलना के माध्यम से सामान्य के अन्वेषण के लिए प्रवृत्ति होते हैं तो कथन अनुचिंतनात्मक *(Reflective)* होते हैं। भावनात्मक बुद्धि का यह मार्गदर्शक अनुभव निरपेक्ष–सूत्र है कि प्रकृति में पाये जाने वाले विखंडित कथन को कुछ निश्चित सूत्रों के माध्यम से व्यवस्थित किया जा सकता है। प्रकृति सरल और सीधे रास्ते से गतिमान है। इसमें विभिन्नता है; लेकिन विभिन्नता में भी एकता दिखाई पड़ती है। इसलिए भावनात्मक बुद्धि प्राकृतिक घटनाओं और पदार्थों को एक संघात के रूप में न लेकर एक व्यवस्था के अंग के रूप में अनुभव–निरपेक्ष ढंग से लेती है। भावनात्मक बुद्धि अनुचिंतनात्मक रूप से प्रकृति पर अपने नियम नहीं लादती है जैसा शुद्ध बुद्धि के क्षेत्र में दिखाई पड़ता है। भावनात्मक बुद्धि ऐसा क्यों करती है?

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

कांट के अनुसार ऐसा करने में भावनात्मक बुद्धि को आनन्द या सुखानुभूति होती है। कोई भी वैज्ञानिक जब परस्पर विरूद्ध–प्रतीत होने वाले सूत्रों को एक सूत्र में पिरोता है या महासामान्य का अन्वेषण करता है तो वह हमारे प्रशंसा का पात्र बनता है। भावनात्मक बुद्धि का मार्गदर्शक सूत्र है– आत्मनिष्ठ तार्किक–प्रयोजनता। जहाँ उसे इसकी प्राप्ति होती है, उसे सुख मिलता है। भगवद्गीता के शब्दों में वह ज्ञान सात्त्विक होता है जो विभिन्न प्रकार के पृथक्–पृथक् ज्ञानों को एक सूत्र में पिरोता है। जहाँ सात्त्विकता रहती है, वहाँ सुख अवश्य ही होता है।

कांट का यह मत बर्क के सदृश है। उसने भी इस मान्यता का समर्थन किया है कि विभिन्नता में एकता के अन्वेषण में एक विशेष सुख मिलता है।

आधुनिक गणितज्ञ और वैज्ञानिक यह मानते हैं कि विभिन्नता में एकता की प्रतिष्ठा का प्रयास वास्तव में समरूपता का ही अन्वेषण है। समरूपता का संबन्ध सौन्दर्य के साथ है तथा सौन्दर्य का संबन्ध आनन्द के साथ। वैज्ञानिकों के अनुसार कोई भी कण, कणों का समूह ब्रह्मांड आदि भौतिक तत्त्व या कोई नियम परिवर्तन की प्रक्रिया से गुजरने के बाद यदि अपरिवर्तित रहता है तो उसे समरूप कहा जायेगा। समरूपता को वैज्ञानिक अनुसंधान के लिए एक महत्त्वपूर्ण सूत्र के रूप में मान्यता प्रदान कराने का श्रेय जर्मन गणितज्ञ और विदुषी एमी नोएथर (1882–1935) को है। समरूपता का अर्थ किसी तंत्र, सिद्धान्त या पदार्थ का परिवर्तन की प्रक्रिया से गुजरने के बाद पूर्ववत् प्राप्ति है। जब हम दो विपरीत कथनों में सामान्य धर्म की प्रतिष्ठा करते हैं तो इसका फल यही प्राप्त होता है कि इस सामान्य धर्म के प्रगटीकरण के दो माध्यम हैं यद्यपि अपरिवर्तित रूप से यह दोनों माध्यमों में वर्तमान है।

कांट ने इस प्रकार के मत का खंडन किया है, जो पुनरावृत्ति को सुन्दरता के लिए आवश्यक मानते हैं। इसका कारण यह प्रतीत होता है कि उस समय तक समरूपता के प्रत्यय की वैज्ञानिक और गणितीय दृष्टि से इतनी विवेचना नहीं हुई थी। कांट यह प्रतिपादित करता है कि सामान्यता का अन्वेषण सुख प्रदान करता है। यह मान्यता एक प्रकार से समरूपीय मान्यता का ही समर्थन है।

IX. कांट ने भावनात्मक बुद्धि की परीक्षा के द्वितीय खंड में

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

विषयनिष्ठ पदार्थात्मक प्रयोजनता का विवेचना किया है। इसके भी दो प्रकार हैं– आकारिक तथा विषयात्मक। प्रथम प्रकार की प्रयोजनता गणितीय आकृतियों में दिखाई पड़ता है। यहाँ प्रयोजनता को उपयोगिता के अर्थ में लिया गया है। विभिन्न प्रकार की ज्यामितीय आकृतियों के माध्यम से हम विभिन्न समीकरणों का समाधान सरलता से करते हैं। इसका सुन्दर उदाहरण आधुनिक विज्ञान में 'पिरियाडिक टेबल' है, जिसके माध्यम से मेंडलीव ने अनेक भौतिक–रासायनिक तत्त्वों की भविष्यवाणी की।

विषयात्मक प्रयोजनता प्राकृतिक पदार्थों में दिखाई पड़ती है। घास, पशु के लिए उपयोगी है, पशु मानव के लिए। इस प्रकार प्रकृति में उपयोगिता का एक चक्र दिखाई पड़ता है। इसके अतिरिक्त जैविकीय पदार्थों में आंतरिक प्रयोजनता दिखाई पड़ती है; ऐसी प्रयोजनताएँ प्रकृति को कलाकार (Technician) के रूप में देखने पर विवश करती है। प्रकृति में यांत्रिक कारणता के अतिरिक्त एक भिन्न प्रकार की कारणता को मानने पर हम विवश होते हैं। जहाँ हम एक पदार्थ को दूसरे के लिए उपयोगी मानते हैं वहाँ बाह्य प्रयोजनता, जहाँ पदार्थ के आंतरिक भाग एक–दूसरे के उपकारक होते हैं, वहाँ आंतरिक प्रयोजनता होती है। यह मुख्यतः जैवकीय पदार्थों में होती है।

आत्मनिष्ठ प्रयोजनताएँ सुख दुःख की अनुभूति के सापेक्ष होती हैं। विषयनिष्ठ प्रयोजनताएँ विषय या पदार्थ के सापेक्ष होती हैं। अतः उपयोगितात्मक प्रयोजनताओं के विधान में बुद्धि और प्रज्ञा की भूमिका महत्त्वपूर्ण हो जाती है, लेकिन दोनों प्रकार की प्रयोजनताओं को भावनात्मक बुद्धि मात्र मार्गदर्शक सूत्र (Reflective judgment) के रूप में ही लेती है। इसे प्रकृति का आंतरिक नियम (Constitutive principle) के रूप में न लेकर, नियामक नियम (Regulative principle) के रूप में ही लेती है।

भाग–2

वेदना–परीक्षा का सार :–

भट्टाचार्यजी ने सर्वप्रथम सौन्दर्यात्मक कथनों को अभिव्यक्त करने वाले कथनों का विश्लेषण किया है। वेदना परीक्षा में सर्वप्रथम यह प्रश्न उपस्थित होता है कि जिन कथनों के माध्यम से संवेदनाओं की अभिव्यक्ति होती है वे कथन ज्ञानात्मक कथनों से भिन्न होते हैं अथवा उनके सदृश होते हैं? कांट ने वैकल्पिक कथन (Determinant judgment) और

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अनुचिंतनात्मक कथन (Reflective judgement) का भेद करते हुए यह प्रदर्शित किया है कि सौन्दर्यात्मक कथन अनुचिंतनात्मक होते हैं। भट्टाचार्यजी के अनुसार इन दो प्रकार के कथनों में भेद के लिए दोनों कथनों में स्थित उद्देश्य और विधेय के स्वरूप पर विचार आवश्यक है। ज्ञानात्मक कथनों में विधेय विशेषण होता है, अनुचिंतनात्मक कथनों में विधेय विशेष्य होता है। 'फूल लाल है'– यहाँ 'लाल' फूल का विशेषण है, क्योंकि वह फूल में है। 'मुख चन्द्रमा के समान हैं– इस अनुचिंतनात्मक कथन में चन्द्रमा मुख में नहीं है। अतः इसे विशेषण कहना उपयुक्त नहीं है। मुख कैसा है? इस जिज्ञासा के उपस्थित होने पर इस जिज्ञासा के शमन के लिए कहना पड़ता है कि वह 'चन्द्रमा के समान' है। अतः 'चन्द्र–सादृश्य' मुख का निरूपक है, बोधक है; मुख बोध्य है। इसलिए भट्टाचार्यजी ने कहा है कि मुख की चन्द्रभावेन कल्पना में जैसे विधेय चन्द्र प्रमुख होता है, मुख गौण होता है, वैसे ही किसी ज्ञेय विषय की विज्ञान (Idea) भावेन कल्पना में विज्ञान ही प्रमुख होता है। इसे अन्य प्रकार से भी समझा जा सकता 'मुख' को समझने के लिए 'चन्द्रमा के धर्मों' का आरोपण करना पड़ता है। अतः वहाँ यह विशेषण नहीं होता है; अपितु यह मुखरूप ही होता हुआ प्रतीत होता है। विज्ञान आदर्श प्रत्यय (Idea) होते हैं, जिनके समानान्तर विषय नहीं होते है तो भी विषय तदाकार का अनुकरण करने मात्र पर ही पहचाने जाते हैं। उदाहरण के लिए बिन्दु वह है, जिसमें न लम्बाई होती है, न चौड़ाई होती है और न ही मोटाई होती है। ऐसा बिन्दु हम विषय रूप से नहीं बना सकते हैं। लेकिन हम किसी 'चित्र' को बिन्दु इसलिए कहते हैं कि वह इस परिभाषा या विज्ञान (Idea) का अनुकरण करता–सा प्रतीत होता है। उस आकृति में बिन्दु न रहते हुए भी उसे निर्धारित करता है, विशेषण की तरह नहीं, विशेष्य की तरह (क्योंकि उस बिन्दु के विज्ञान को ध्यान में न रखने पर उसे हम बिन्दुरूप से पहचान नहीं सकते हैं)।

यह विषय निम्नांकित तीन कथनों की तुलना करने पर और स्पष्ट हो जाता है– (1) फूल लाल है; (2) 'फूल फूल है' तथा (3) 'अमुक चित्र बिन्दु है।' प्रथम कथन में लाल विशेषण है। द्वितीय कथन तादात्म्यात्मक कथन है। कांट कहता है कि प्रत्येक उद्देश्य के लिए एक ऐसा विधेय होता है जिसका उसके साथ तादात्म्य होता है। यह तादात्म्य का नियम है। नैयायिक यहाँ शाब्द–बोध नहीं मानते हैं, या लक्षणा से बोध मानते हैं, लेकिन

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

लक्षणा मानने पर तादात्म्य के नियम का खंडन होगा। यह विद्वानों के लिए विचारणीय विषय है कि भारतीय दर्शन में तादात्म्य के नियम का क्या रूप है? तृतीय में उद्देश्य विधेय का अपूर्ण प्रतिनिधि है। अतः मुख्य विशेष्य विधेय है। जहाँ विज्ञान रूप से किसी पदार्थ को स्वीकार किया जायेगा, वहाँ उद्देश्य सर्वदा उसका अपूर्ण प्रतिनिधि मात्र होगा। उसकी पहचान विधेय के ध्यान के बिना असंभव है। जब भी हम विधेय को याद करेगें, हमारा साक्षात्कार उद्देश्य के साथ होगा।

भट्टाचार्यजी ने अनुचिंतनात्मक कथनों के दो भेद किये हैं– अस्फुट तथा स्फुट। यह उनकी सूझ है। अस्फुट कथन सौन्दर्यात्मक तथा महाभावात्मक क्षेत्र में होते हैं, तथा स्फुट कथन विषयनिष्ठ प्रयोजनापरक प्राकृतिक विषयों के क्षेत्र में होते हैं। इस प्रकार से वे भावनात्मक बुद्धि की परीक्षा में विवेचित प्रथम खंड और द्वितीय खंड में एक आंतरिक संबन्ध दिखाने का प्रयास करते हैं।

सौन्दर्य और महाभाव की अभिव्यक्ति में भावना की भूमिका प्रमुख होती है। इनसे संबन्धित कथन ज्ञानात्मक नहीं होते हैं। ऐसी स्थिति में अस्फुट कहने का क्या अभिप्राय हैं ? इसका उत्तर यह है कि इनसे संबन्धित कथन भावनात्मक होते हुए भी 'बुद्धि और प्रज्ञा के अव्यक्त (Indeterminate) प्रकार्य के प्रतिकूल नहीं होते हैं। बुद्धि और प्रज्ञा के प्रकार्य दो प्रकार से होते हैं– अव्यक्त (Indeterminate) तथा व्यक्त (determinate) जब विकल्परुप से बुद्धि–प्रवृत्ति होती है, तो उसके प्रकार्य व्यक्त होते हैं। वह विकल्पों के माध्यम से संवेदना को नियंत्रित करती है। लेकिन अपने अव्यक्त प्रकार्य में संवदेनों या भावनाओं को वह नियंत्रित नहीं करती है। लेकिन भावना की कल्पनात्मक उड़ान इसके प्रतिकूल नहीं होती है। उदाहरण स्वरूप यदि कोई व्यक्ति किसी देश में रहता है। वह उस देश के संविधान से पूर्णतः अपरिचित है। वह यह भी नहीं जानता है कि उस देश में कोई संविधान है या नहीं है। लेकिन वह जो भी कार्य करता है वह उस देश के संविधान के प्रतिकूल नहीं होता है। सौन्दर्यानुभूति और महाभावनात्मक अस्फुट कथनों को इसी रूप में लेना चाहिए।

सौन्दर्यानुभूति के विषय परिच्छिन्न होते हैं; अतः वे बुद्धि के अव्यक्त प्रकार्य के अनुरूप होते हैं। महाभावात्मक विषय अपरिच्छिन्न होते हैं; अतः वे प्रज्ञा के अव्यक्त प्रभाव के क्षेत्र में रहते हैं। इसलिए भट्टाचार्यजी ने यह

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

निष्कर्ष निकाला है कि इन क्षेत्रों में अस्फुट कथन होते हैं; बुद्धि के विकल्प तथा प्रज्ञा के विज्ञान यहाँ व्यक्त रूप से कार्य नहीं करते हैं।

कांट के अनुसार आत्मा, जगत् और ईश्वर विज्ञान हैं। जगत् के पदार्थों का ज्ञान होता है। लेकिन जगत् का संपूर्णता में ज्ञान नहीं होता है। इसका मनन होता है। जगत् की संपूर्ण समग्रता का ग्रहण न इंद्रियों के माध्यम से होता है, न इन्द्रिय निरपेक्ष रूप से। जगत् निरंतर प्रवाहित हो रहा है। आधुनिक विज्ञान के अनुसार भी जगत् निरंतर विस्तृत होता जा रहा है। अतः जगत् की संपूर्ण समग्रता का मात्र मनन हो सकता है। मननात्मक या अनुचिंतनात्मक कथनों में विधेय सर्वदा विशेष्यात्मक होता है, जबकि ज्ञानात्मक कथनों में विशेषणात्मक होता है।

इस संदर्भ में यह भी ध्यान देना आवश्यक है कि महाभाव के विषय को किस अर्थ में अपरिच्छिन्न कहा गया है। समुद्र का विस्तार मानव के लिए अगम्य नहीं है। हम उसकी गहराई और चौड़ाई माप सकते हैं। कांट दो प्रकार के मापदंड में भेद करता है– तार्किक या गणितीय मापदंड तथा संवेदनात्मक मापदंड (Comprehensio logico and comprehensio aesthetica)। संवेदनात्मक अनुभूति में कल्पना को प्रत्ययात्मक होने की आवश्यकता नहीं होती है। ग्रहण बोध (Comprehension) संवेदनात्मक रूप से इसलिए असफल होता है कि हम एक ही संवेदन में अनन्त प्रतीत होने वाले विषय को पकड़ना चाहते हैं।

सौन्दर्य की अनुभूति आनन्दात्मक होती है, महाभाव की अनुभूति दुःख–सुख मिश्रित होती है। दुःखात्मक इसलिए क्योंकि वह अपनी विराटता से हमारे पहुँच के बाहर दिखाई पड़ती है; सुखद इसलिए क्योंकि वह हमारी प्रज्ञा के उस शक्ति की प्रत्यभिज्ञा करा देती है जिसके समक्ष प्रकृति का विस्तार लघु जान पड़ता है।

सौन्दर्य और महाभाव के क्षेत्र में अनुचिंतनात्मक कथन अस्फुट होते हैं। विषयनिष्ठ प्रयोजनता के क्षेत्र में कथनस्फुट होते हैं। विषयनिष्ठ प्रयोजनता के क्षेत्र में हम प्राकृतिक विषय–वृक्ष, नदी, भूतल, पहाड़ आदि विषयों की प्रयोजनता पर विचार करते हैं। इनका बोध बुद्धि और प्रज्ञा के व्यक्त व्यापरों पर आश्रित होता है। कांट दिखाने का प्रयास करता है कि किस प्रकार यांत्रिक कारणता प्रयोजनमूलक कारणता से भिन्न है। यांत्रिक कारणता में कार्य, कारण पर निर्भर होता है; प्रयोजनमूलक कारणता में

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

कारण, कार्य पर निर्भर होता है। इसलिए अनुचिंतनात्मक कथन इस प्रकार का होता है कि 'यह विषय अमुक अभिप्राय के लिए उपयोगी है।' कांट के विषयनिष्ठ प्रयोजनता को समझने के लिए दो प्रकार के कारण संबन्धों को समझना आवश्यक है– निमित्त कारण (Nexus effectivus) तथा प्रयोजनमूलक कारण (Nexus finalis) प्रथम प्रकार की कारणता में कार्य, कारण पर निर्भर रहते हैं, लेकिन हम कारण को कार्य पर निर्भर नहीं पाते हैं, द्वितीय प्रकार की कारणता में अन्योन्याश्रयता होती है– कार्य कारण पर निर्भर रहता है तथा कारण भी कार्य पर निर्भर होता है। कांट उदाहरण देता है कि कोई घर, घर से मिलने वाले किराये का कारण कहा जा सकता है, उसी प्रकार किराये की अभिलाषा को भी घर बनाने के कारण के रूप में देखा जा सकता है। प्रयोजनता भी दो प्रकार की हो सकती है– बाह्य तथा आंतरिक। बच्चों को पैंदा करते समय माता के स्तनों में दूध आ जाता है। जाड़े के दिनों में जमीन से निकलने वाला पानी गर्म होता है। घास पशु के लिए तथा पशु मनुष्य के लिए उपयोगी होता है। ये सब बाह्य प्रयोजनता के उदाहरण हैं। बाह्य प्रयोजनता में एक कलाकार की उपमा के आधार पर हम प्रकृति में एक कलाकार का आरोपण कर सकते हैं। हम यह समझ सकते हैं कि जैसे कोई कलाकार एक निश्चित प्रयोजन को रखकर अपनी कलाकृतियों का निर्माण करता है उसी प्रकार प्रकृति भी एक निश्चित प्रयोजन से संचालित होती है। इस प्रकार प्रकृति में यांत्रिकता के स्थान पर एक सचेतात्मक कला (Technic) का आरोपण करते हैं। इस प्रकार का चिंतन बाह्य प्रयोजनता का उदाहरण है। कांट इस प्रकार की प्रयोजनता पर अधिक बल नहीं देता है। प्रकृति ऐसा व्यवहार नहीं करती है जिससे हमें यह लगता है कि वह मानवअस्तित्व को बनाये रखने के लिए क्रियाशील है। अनेक बिमारियाँ तथा प्राकृतिक विपदाएँ इसके उदाहरण हैं। बाह्य प्रयोजनता हमें बहुत दूर तक नहीं ले जाती है।

प्रकृति में एक–दूसरे प्रकार की प्रयोजनता दिखाई पड़ती है। वह व्यवस्था अन्योन्याश्रय कारण व्यवस्था (Nexus finalis) के आधार पर होती हैं। इसका उदाहरण जैवकीय रचनाओं (Organic products) में होता है। जैवकीय संरचना में हर एक भाग दूसरे के लिए कार्य करता है। वृक्ष इसका एक उदाहरण हैं, वृक्ष पत्ती के लिए कार्य करता है तथा पत्ती वृक्ष के लिए। वृक्ष स्वयं अपनी समान सजातीय वृक्ष को उत्पन्न करता है। इस प्रकार

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

जैवकीय संरचना का प्रत्येक भाग साधन और साध्य होता है। यह प्रारूप मानव कलाकृतियों में पाये जाने वाले प्रयोजन से भिन्न है। मानव कला कृति जैसे घड़ी के बनाने में घड़ी को बनाने वाला बाहर से गति देता है तथा एक घड़ी स्वयं दूसरी घड़ी को नहीं बनाती है, न ही घड़ी की सूई घड़ी का कोई उपकार करती है। घड़ी स्वयं एक संघात है और उसमें प्रयोजन बाहर से मानव द्वारा पिरोया गया है। इसके विपरीत जैवकीय संरचनाओं में प्रयोजन आंतरिक है, प्रत्येक भाग साधन और साध्य होता है। इस प्रकार की प्रयोजनता हमें विवश करती है कि प्रकृति को समझने के लिए हम यांत्रिक कारणता के अतिरिक्त प्रयोजनमूलक कारणता के माध्यम से ऐसे स्थलों विवेचन करें जहाँ यांत्रिक कारणता हमारा मार्गदर्शन नहीं करती है।

कांट ने प्रयोजनता के उपरोक्त दो प्रकारों का जो वर्णन किया है उसमें यदि बाह्य प्रकार की प्रयोजनता को आधार बनाते हैं तो ईश्वर हमारे समक्ष एक विशिष्ट कलाकार के रूप में उपस्थित होता है। कांट ने शुद्ध–बुद्धि की परीक्षा में प्रयोजनवादी तर्क को इसी रूप में उपस्थित किया है। यदि द्वितीय प्रकार की प्रयोजनता को अपना पथ–प्रदर्शक स्वीकार करते हैं तो ईश्वर जैवकीय श्रृंखला का सबसे विकसित ऐसा चिदणु होगा जो स्वयं पूर्ण होगा। यह ईश्वर लाइबनित्ज के ईश्वर के सदृश होगा। लेकिन कांट ने ऐसा कोई संकेत नहीं दिया है। भट्टाचार्यजी के अनुसार आंतरिक प्रयोजनता जगत् को प्राणमय रूप से देखने के लिए प्रेरित करती है तथा इस प्रकार से कल्पित ईश्वर को जगत् के प्रयोजन मूलक कारण के रूप में प्रतिष्ठित करती है।

भट्टाचार्यजी ने यह दिखाने का प्रयास किया है कि न केवल भावनात्मक क्षेत्र में, अपितु नैतिकता के क्षेत्र में भी मननात्मक कथनों में विधेय विशेष्यरूप से या द्रव्यात्मक होते हैं। विज्ञान स्वतंत्र होते हैं अतः प्लेटो के शब्दों में उसे द्रव्य कहा जा सकता है। यह मान्यता कांटीय दर्शन के अनुरूप है। कांट नैतिकता तथा धर्म आदि के क्षेत्र में एक सीमा तक प्लेटो के विज्ञानवाद को मान्यता देता है। 'अमुक विषय सुन्दर और महत् है' या 'अमुक कर्म मेरा कर्तव्य है'– ये दोनों कथन मननात्मक हैं। दोनों कथनों में विधेय विशेष्य है। भट्टाचार्यजी ने कृति परीक्षा में यह दिखाया है कि 'कर्त्तव्य' या 'चाहिए' संकल्पात्मक आत्मा से भिन्न नहीं है। अतः नैतिक कथन में श्रद्धात्मक मनन है क्योंकि इसका आलम्बन आत्मा है; जबकि आनन्दात्मक

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

मनन या सौन्दर्यात्मक मनन में आलम्बन 'अमुक विषय' है। नैतिक कर्म क्यों करना चाहिए? इसका निरूपक निरपेक्ष नैतिक आदेश होता है जो संकल्पात्मक आत्मा से अभिन्न है। आनन्दात्मक मनन में विषय आलम्बनरूप से आनन्दाभिव्यक्ति के माध्यम बनते हैं। आनन्दात्मक मनन में विषय आत्मा द्वारा अभिप्रेत नही होते हैं, तो भी आत्मा के आनन्दात्मक रसानुभूति के आलम्बन के रूप में अपेक्षित होते हैं। इसलिए भट्टाचार्य जी ने कहा है कि 'आनन्दात्मक अध्यवसाय में विषयगत आत्माभास अहेतुक होता है।

संवेदन परीक्षा का उपसंहार करते हुए भट्टाचार्य जी ने कहा है कि सौष्ठवपूर्ण जगत् को मननात्मक आत्मा नैतिकता के प्रतीक के रूप में या स्वतंत्र आत्मा के प्रतीक के रूप में लेती है। जगत् नैतिक क्षेत्र है जिसे हम अपने कर्त्तव्य कर्म के माध्यम से शुभत्व की ओर अग्रसर करने में सहभागी होते हैं।

वेदना–परीक्षा में भट्टाचार्यजी की प्रमुख ध्यान कथन के उस आकार को पकड़ना है जिसके विभिन्न रूपों के माध्यम से ज्ञानात्मक या मननात्मक कथन अभिव्यक्त होते हैं। भट्टाचार्य जी के अनुसार ज्ञानात्मक या मननाकार कथनों का सामान्य आकार 'अमुक विषय का अमुक स्वभाव या प्रकार है।' न्याय दर्शन से हम जानते हैं कि ज्ञान, इच्छा आदि सविषयक होते है। इसलिए भट्टाचार्य जी कहते हैं कि 'ज्ञानात्मक अध्यवसाय में वह सहेतुक होता है।' विषय की उपलब्धि ज्ञान के क्षेत्र में संवेदन के कालिक द्वार से होती है तथा इच्छा (संकल्प अथवा कृति) के क्षेत्र में जगत् में अनुष्ठित कर्म के माध्यम से होती है। ज्ञान किस विषय का होता है? इस प्रश्न का उत्तर है– ज्ञान कालिक विषय का होता है। इसी प्रकार कर्तव्य क्या है? इस जिज्ञासा के शमन के लिए कहना पड़ता है कि निरपेक्ष आदेशानुसार किया गया जागतिक कर्म कर्त्तव्य है। काल कांट के अनुसार आंतरिक इंद्रिय है। अतः यह आत्मा से भिन्न नहीं है। कांट ने व्यवहारिक दृष्टि से देश–काल को यथार्थ तथा परमार्थिक दृष्टि से आभास माना है। ज्ञान के संदर्भ में ज्ञानात्मक अभिव्यक्ति के लिए विषय को आकारीकरण के माध्यम से प्रस्तुत करने की प्रक्रिया में काल की अहम भूमिका होती है। नैतिकता के क्षेत्र में संदर्भ मात्र काल न होकर जगत् होता है। जगत् को हम स्व–आत्मा से अभिन्न नहीं कह सकते हैं; काल को कह सकते हैं। नैतिकता के क्षेत्र में इच्छा (संकल्प या कृति) का स्वरूप होता है– इस जगत् में हमारा क्या

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

कर्त्तव्य है? जगत् विज्ञान है; अतः आत्मा का विशेषाकार नहीं कहा जा सकता है। अतः जगत् को ज्ञेय न मानकर आत्मा का प्रतीक मानना उचित प्रतीत होता है। इस प्रकार भट्टाचार्यजी कांट के मत को पुष्ट करते हुए प्रतीत होते हैं कि जगत् का परम् प्रयोजन (Final Purpose) मानव में निहित है, क्योंकि उसमें सबसे चमकदार नैतिक रत्न निहित है। कांट कहता है– "Now of man (and so of every rational creature in the world) as a moral being it can no longer to asked why *(quem in finem)* he exists. His existence involves in the highest purpose to which, as far as in his power, he can subject the whole of nature, contrary to which at least he cannot regard himself as subject to any influence of nature".

परिशिष्ट

'कांट के दर्शन का तात्पर्य' में वेदाना–परीक्षा पर भट्टाचार्य जी की टिप्पणी

अनुवादक : मुकुन्द लाठ

1. विधेय–विशेषक और विधेय–विशेष्यक अध्यवसाय – (Determinative and Reflective Judgment)

काष्ठा मात्र के ध्यान में यह निश्चय होता है कि 'काष्ठक वस्तु हैं'। इस निश्चय का प्रकाश 'काष्ठा वास्तव है' ऐसे उद्देश्य–विधेयात्मक वाक्य में किया तो जा सकता है, पर इस वाक्य में विधेय उद्देश्य से भिन्न नहीं होता। काष्ठा–प्रत्यय वस्तुता–प्रत्यय–रहित नहीं होता। अतएव उक्त वाक्य को मात्र शाब्दिक दृष्टि से ही वाक्य कहा जा सकता है, आर्थिक दृष्टि से नहीं। काष्ठा के विषय में यह निश्चय भी होता है कि 'यह किसी परिच्छन्न ज्ञेय वस्तु से संबद्ध है'। कहा जा सकता है कि ऐसे निश्चय में काष्ठा का गौण भावेन ध्यान होता है। 'यह विषय इस काष्ठा के अनुरूप हैं, इत्याकारक निश्चयवाक्य के बारे में यह कहना युक्त होगा कि 'यहाँ उद्देश्य विधेय से भिन्न हैं', कारण यह कि विषयज्ञान में सर्वत्र काष्ठानुरूपी ज्ञान नहीं होता। काष्ठा के ऐसे गौण ध्यान को भाषा में उद्देश्यविधेयात्मक वाक्य द्वारा ही प्रकाशित किया जा सकता है। जो निश्चय वाक्य द्वारा अवश्य–प्रकाश्य होता है उसे

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

व्यापक अर्थ में अध्यवसाय कहा जा सकता है। इसी तरह विषयज्ञानात्मक अध्यवसाय से भिन्न ध्यानात्मक अध्यवसाय का भी स्वीकार किया जा सकता है। ज्ञानात्मक अध्यवसाय में प्रकार–विधेय विशेष्य होता है और उद्देश्यविषय विशेषण होता है। 'यह विषय इस काष्ठा के अनुरूप है', इस वाक्य का अर्थ यह होता है कि 'यह काष्ठा मानो इस विषय में प्रकार या विशेषण है'। वस्तुतः यह प्रकार नहीं, विशेष्य–वस्तु होती है– उद्देश्यविषय रूपी उपाधि द्वारा विशेषित विशेष्य–वस्तु। विधेय–विशेषणक ज्ञानवाची वाक्य की अपेक्षा से ऐसे ध्यानवाची वाक्य को विधेय–विशेषक वाक्य कहना उचित होगा (Determinative and Reflective Judgment)। मुख की चन्द्र भावेन कल्पना में जैसे विधेय चन्द्र पदार्थ ही मुख्य होता है, मुख गौण होता है, वैसे ही ज्ञेय विषय की काष्ठा–भावेन कल्पना की जाये तो विधेय–विशेष्यक अध्यवसाय कहा जा सकता है।

2. आनन्दध्यानानुगत अध्यवसाय–रसात्मक और उपयोगितात्मक (Aesthetic and Teleological Judgment)

परिच्छिन्न विषय की काष्ठा रूपी आत्मा का गौण ध्यान श्रद्धाध्यान या आनन्दध्यान, दोनों प्रकार का हो सकता है। श्रद्धाध्यान में आत्मा आलंबन होती है, और ऐसा निश्चय रूप लेता है कि आत्मा मानो परिच्छिन्न विषय है। आनन्दध्यान में विषय आलंबन होता है, और निश्चय यह होता है कि परिच्छिन्न विषय मानो आत्मा है। कांट ने विधेय–विशेष्यक अध्यवसाय पर विचार की अवतारणा प्रधानतः आनन्दध्यान के प्रसंग में की है। ज्ञानात्मक अध्यवसाय का आलम्बन परिच्छिनन विषय होता है– ऐसे उद्देश्य–विषय के प्रति प्रकारक्रिया–मूलक अतिविषय प्रत्यभिज्ञा रूपी आत्मा की विधेयता का प्रत्यय ही ज्ञानात्मक अध्यवसाय होता है। प्रभेद यहाँ यह है कि यहाँ विधेय विषय का विशेषण होता है, नहीं तो इसके बारे में यह कहा जा सकेगा कि आनन्दध्यानात्मक अध्यवसाय इसका तुल्य प्रत्यय है। हमने विषयज्ञानात्मक अध्यवसाय के सूत्ररूप पर विचार करते हुए कहा है कि ज्ञातविषय का बहिःपरिमाण भी होता है और अंतःपरिमाण भी होता है। साथ ही, अन्य ज्ञात विषय के साथ उसका नित्य कालिक संबंध भी होता है, और यह कालिक संबंध किसी रूपेण 'काल में' होता हैः विषय के संबंध में ऐसा इन्द्रिय–निरपेक्ष ज्ञान हमें रहता है। लेकिन ज्ञात विषय का परिमाण कितना होना चाहिये, किसके साथ उसका कालिक संबंध बनता है– ऐसी बातों का

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

कर्त्तव्य है? जगत् विज्ञान है; अतः आत्मा का विशेषाकार नहीं कहा जा सकता है। अतः जगत् को ज्ञेय न मानकर आत्मा का प्रतीक मानना उचित प्रतीत होता है। इस प्रकार भट्टाचार्यजी कांट के मत को पुष्ट करते हुए प्रतीत होते हैं कि जगत् का परम् प्रयोजन (Final Purpose) मानव में निहित है, क्योंकि उसमें सबसे चमकदार नैतिक रत्न निहित है। कांट कहता है– "Now of man (and so of every rational creature in the world) as a moral being it can no longer to asked why *(quem in finem)* he exists. His existence involves in the highest purpose to which, as far as in his power, he can subject the whole of nature, contrary to which at least he cannot regard himself as subject to any influence of nature".

परिशिष्ट

'कांट के दर्शन का तात्पर्य' में वेदाना–परीक्षा पर भट्टाचार्य जी की टिप्पणी

अनुवादक : मुकुन्द लाठ

1. विधेय–विशेषक और विधेय–विशेष्यक अध्यवसाय – (Determinative and Reflective Judgment)

काष्ठा मात्र के ध्यान में यह निश्चय होता है कि 'काष्ठक वस्तु है'। इस निश्चय का प्रकाश 'काष्ठा वास्तव है' ऐसे उद्देश्य–विधेयात्मक वाक्य में किया तो जा सकता है, पर इस वाक्य में विधेय उद्देश्य से भिन्न नहीं होता। काष्ठा–प्रत्यय वस्तुता–प्रत्यय–रहित नहीं होता। अतएव उक्त वाक्य को मात्र शाब्दिक दृष्टि से ही वाक्य कहा जा सकता है, आर्थिक दृष्टि से नहीं। काष्ठा के विषय में यह निश्चय भी होता है कि 'यह किसी परिच्छिन्न ज्ञेय वस्तु से संबद्ध है'। कहा जा सकता है कि ऐसे निश्चय में काष्ठा का गौण भावेन ध्यान होता है। 'यह विषय इस काष्ठा के अनुरूप हैं, इत्याकारक निश्चयवाक्य के बारे में यह कहना युक्त होगा कि 'यहाँ उद्देश्य विधेय से भिन्न है', कारण यह कि विषयज्ञान में सर्वत्र काष्ठानुरूपी ज्ञान नहीं होता। काष्ठा के ऐसे गौण ध्यान को भाषा में उद्देश्यविधेयात्मक वाक्य द्वारा ही प्रकाशित किया जा सकता है। जो निश्चय वाक्य द्वारा अवश्य–प्रकाश्य होता है उसे

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

व्यापक अर्थ में अध्यवसाय कहा जा सकता है। इसी तरह विषयज्ञानात्मक अध्यवसाय से भिन्न ध्यानात्मक अध्यवसाय का भी स्वीकार किया जा सकता है। ज्ञानात्मक अध्यवसाय में प्रकार–विधेय विशेष्य होता है और उद्देश्यविषय विशेषण होता है। 'यह विषय इस काष्ठा के अनुरूप है', इस वाक्य का अर्थ यह होता है कि 'यह काष्ठा मानो इस विषय में प्रकार या विशेषण है'। वस्तुतः यह प्रकार नहीं, विशेष्य–वस्तु होती है– उद्देश्यविषय रूपी उपाधि द्वारा विशेषित विशेष्य–वस्तु। विधेय–विशेषणक ज्ञानवाची वाक्य की अपेक्षा से ऐसे ध्यानवाची वाक्य को विधेय–विशेषक वाक्य कहना उचित होगा (Determinative and Reflective Judgment)। मुख की चन्द्र भावेन कल्पना में जैसे विधेय चन्द्र पदार्थ ही मुख्य होता है, मुख गौण होता है, वैसे ही ज्ञेय विषय की काष्ठा–भावेन कल्पना की जाये तो विधेय–विशेष्यक अध्यवसाय कहा जा सकता है।

2. आनन्दध्यानानुगत अध्यवसाय–रसात्मक और उपयोगितात्मक (Aesthetic and Teleological Judgment)

परिच्छिन्न विषय की काष्ठा रूपी आत्मा का गौण ध्यान श्रद्धाध्यान या आनन्दध्यान, दोनों प्रकार का हो सकता है। श्रद्धाध्यान में आत्मा आलंबन होती है, और ऐसा निश्चय रूप लेता है कि आत्मा मानो परिच्छिन्न विषय है। आनन्दध्यान में विषय आलंबन होता है, और निश्चय यह होता है कि परिच्छिन्न विषय मानो आत्मा है। कांट ने विधेय–विशेष्यक अध्यवसाय पर विचार की अवतारणा प्रधानतः आनन्दध्यान के प्रसंग में की है। ज्ञानात्मक अध्यवसाय का आलम्बन परिच्छिनन विषय होता है– ऐसे उद्देश्य–विषय के प्रति प्रकारक्रिया–मूलक अतिविषय प्रत्यभिज्ञा रूपी आत्मा की विधेयता का प्रत्यय ही ज्ञानात्मक अध्यवसाय होता है। प्रभेद यहाँ यह है कि यहाँ विधेय विषय का विशेषण होता है, नहीं तो इसके बारे में यह कहा जा सकेगा कि आनन्दध्यानात्मक अध्यवसाय इसका तुल्य प्रत्यय है। हमने विषयज्ञानात्मक अध्यवसाय के सूत्ररूप पर विचार करते हुए कहा है कि ज्ञातविषय का बहिःपरिमाण भी होता है और अंतःपरिमाण भी होता है। साथ ही, अन्य ज्ञात विषय के साथ उसका नित्य कालिक संबंध भी होता है, और यह कालिक संबंध किसी रूपेण 'काल में' होता हैः विषय के संबंध में ऐसा इन्द्रिय–निरपेक्ष ज्ञान हमें रहता है। लेकिन ज्ञात विषय का परिमाण कितना होना चाहिये, किसके साथ उसका कालिक संबंध बनता है– ऐसी बातों का

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

निर्देश इस ज्ञान में नहीं होता, क्योंकि ये बातें इन्द्रिय–सापेक्ष हैं। एतत् रूपेण ज्ञात विषय की निखिल समष्टि का नाम जगत् है। यह ठीक है कि प्रकार संबंध से विषय मात्र का इन्द्रिय–निरपेक्ष ज्ञान होता है, पर समष्टि–भूत जगत् के सम्बन्ध में इन्द्रिय–सापेक्ष या इन्द्रिय–निरपेक्ष, किसी भी तरह का ज्ञान नहीं होता। जगत् ध्येय पदार्थ है। इसलिये जगत् का ज्ञान तो नहीं होता पर जगत् के सम्बन्ध में ध्यानात्मक अध्यवसाय के मूलसूत्र रूप का इन्द्रिय–निरपेक्ष निश्चय होता है– इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता। ज्ञानात्मक अध्यवसाय का मूलसूत्र यह है कि 'विषय मात्र में प्रकारगर्भ प्रत्यभिज्ञा रूपी आत्मधर्म की छाया होती है'। और ध्यानात्मक अध्यवसाय का मूलसूत्र यह है कि 'विषय समष्टि या जगत् में स्वप्रकारक विशेष्य रूपी आत्मा की छाया है, अर्थात् जगत् मानो आत्मा की तरह ही अपने आप को प्रकारित करता है'।

ज्ञान की दृष्टि से विषय–परिच्छेद अज्ञेय वस्तु में ज्ञात आत्मा द्वारा रचा गया आभासात्मक प्रकार है और ध्यान की दृष्टि से विषय–परिच्छेद आत्मभूत जगत् का स्वरचित प्रकार है– जगत् रूपी स्वकारणक आत्मा का वास्तव व्यापार है।

ज्ञानात्मक अध्यवसाय के स्फुट और अस्फुट, ये भेद माने जा सकते हैं। अस्फुट अध्यवसाय में विषय गृहीत भावेन स्फुट होता है, पर प्रकारित भावेन अस्फुट होता है, अर्थात् उसका प्रकार क्या, यह ज्ञान नहीं होता, प्रकार क्या, यह जानने की आकांक्षा भर होती है। इसके विपरीत, स्फुट अध्यवसाय में विषय प्रकारित भावेन भी स्फुट होता है, अर्थात् यह निश्चय रहता है कि विषय अमुक प्रकार का है। आनन्दध्यानात्मक अध्यवसाय के भी स्फुट और अस्फुट, ये भेद किये जा सकते हैं। यह प्रतीति कि ध्यान का आलम्बन ज़ो विषय–परिच्छेद या आकार है, वह आत्मभूत जगत् का स्वरचित या स्वाभिप्रेत प्रकार या व्यापार है– यह प्रतीति स्फुट भी हो सकती है, अस्फुट भी। अस्फुट प्रतीति में आकार के विषय में, 'इसका प्रकार क्या', इस आकांक्षा का या प्रकार के इंगित मात्र का प्रकाश होता है। ऐसे इंगित रूपी प्रकाश को परिच्छिन्न विषय में जागती रस–स्फूर्ति कहा जा सकता है। यह जगत् रूपी आत्मा का अभिप्राय क्या, इस बात की उपलब्धि नहीं होती, या आकूत के प्रकाश की भी उपलब्धि नहीं होती, पर यह ऐसा वेदनात्मक (भावनात्मक) निश्चय होता है कि 'यह किसी अनिर्दिष्ट अभिप्राय का प्रकाश

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

है'। ऐसे अस्फुट प्रकाश की अनुभूति दो तरह से होती है : क्योंकि अनर्दिष्ट अभिप्राय कहीं कल्पनीय प्रतीत होता है, तो कहीं कल्पनीय या कल्पनातीत प्रतीत होता है। पहली प्रतीति में विषय में जागती रस–स्फूर्ति को शोभा या सौन्दर्य के नाम से जाना जा सकता है, दूसरी में होती रस–स्फूर्ति को 'महाभाव' कहना चाहिये। विषय की शोभा और महाभाव, एतत् रूपी अस्फुट प्रकाश के निश्चय को रसात्मक अध्यवसाय (Aesthetic judgment) का नाम दिया जा सकता है। शोभा और महाभाव, दोनों की अनुभूति आनन्द है। शोभा की अनुभूति आनन्द मात्र है। महाभाव की अनुभूति दुःखाश्रित आनन्द है। अर्निदिष्ट जगदभिप्राय की कल्पनीय भावेन प्रतीति कौतूहल विशेष होती है– यह कौतूहल एक अभिमानिक क्रिया है जो शोभा रूपी रस–स्फूर्ति के अनुकूल है। जगदभिप्राय की कल्पनातीत भावेन प्रतीति में कौतूहल रूपी अभिमान के निरोध का बोध होता है। यह बोध एक अप्राकृत दुःख विशेष होता है। पर विरोधी भावेन भी यह दुःख महाभाव रूपी रस–स्फूर्ति का आनुकूल्य ही साधता है।

किसी विषय में जगदभिप्राय की स्फुट प्रतीति का अर्थ–लेता अभिप्राय क्या है, इसका निश्चय अस्फुट प्रतीति के इत्याकारक अध्यवसाय–वाक्य में प्रकाशित किया जाता है। 'यह विषय सुंदर या महत् है'। पर, इसके विपरीत, 'यह विषय अमुक अभिप्राय के लिये उपयोगी है', ऐसा वाक्य स्फुट–प्रतीति–प्रकारक अध्यवसाय–वाक्य होता है। ऐसी स्फुट–प्रतीति को उपयोगिता अध्यवसाय (Teleological Judgment) कहा जा सकता है। रसात्मक अध्यवसाय को ऐसे अध्यवसाय का अस्फुट रूप कहा जा सकता है– क्योंकि किसी विषय की आनन्दमय प्रतीति आत्मभूत जगत् के अभिप्राय–उपयोगित्व की वेदना (भावना) मात्र होती है। स्फुट उपयोगिता–निश्चय में उसका विषय–प्रकार रूपेण बोध बना रहता है। रस–निश्चय में ऐसा बोध नहीं रहता। उपयोगिता–निश्चय दो प्रकार का होता है। पहले प्रकार में प्रकृत विषय जिस जगदभिप्रेतार्थ का उपयोगी होता है, वह अभिप्राय विषय से अतिरिक्त या विषय–बाह्य अर्थ के रूप में कल्पित होता है। दूसरे प्रकार में अभिप्राय तद्–विषय के ही अतिशय या प्रेयः रूप आंतर अर्थ या प्रयोजन के रूप में कल्पित होता है। यह आंतर प्रयोजन आत्मभूत जगत् का अभिप्रेतार्थ ही है, ऐसा कहा जा सकता है। लेकिन प्रकृत विषय के संदर्भ में यह प्रयोजन बाह्य प्रयोजन भी हो सकता है, आंतर भी हो

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

सकता है। जो विषय प्राणवत् होता है वह जगदभिप्राय का उपयोगी होता है, यह बात उस विषय के ही आंतर प्रयोजन या प्रेय के रूप में कल्पित होती है। इससे इस कल्पना को भी अवकाश मिलता है कि 'सारा जगत् ही प्राणवत् पदार्थ है'। एतत् रूपेण कल्पित जगत् को पूर्वोक्त तृतीय ईश्वर प्रमाण के प्रयोजक के रूप में गृहीत किया जा सकता है।

3. श्रद्धाध्यानानुगत अध्यवसाय–धर्माध्यवसाय (Moral Judgment)

'यह विषय सुंदर या महत् है, इस विषय का अमुक बाह्य या आंतर प्रयोजन है'– इत्याकारक निश्चय को आनन्द–ध्यानात्मक निश्चय कहा जा सकता है। यह अध्यवसाय ज्ञान नहीं होता, ज्ञानेतर निश्चय होता है। श्रद्धाध्यानात्मक अध्यवसाय का वाक्याकार यह है : 'इस संदर्भ में यह कर्म कर्त्तव्य है, या श्रेय है'। हम पहले ही कह चुके हैं कि स्वाधीन कृति विषय की अपेक्षा रखती है। विधि और आत्मा का स्वातंत्र्य एक ही कृत्यात्मक ज्ञान में ज्ञेय होता है, अतएव विधि भी विषय की अपेक्षा रखती है। कर्म का संदर्भ विषय होता है, संदर्भ–विशेष में विहित कर्म–विशेष भी विषय होता है। विधि इस कर्म–विशेष रूपी विषय की सापेक्ष होती है। 'यह कर्म कर्त्तव्य है', इस प्रत्यय में 'यह कर्म' विषय है, कर्तव्यता या विधि को इसका श्रेय– रूप प्रकार कहा जा सकता है, और यों इस प्रत्यय को श्रद्धात्मक या धर्मात्मक ध्यान के अनुगत अध्यवसाय का नाम दिया जा सकता है। यह स्वीकार करना आवश्यक है कि आनन्दात्मक अध्यवसाय से इस अध्यवसाय में विशेष अंतर है। यह ठीक है कि दोनों अध्यवसाय विधेय–विशेष्यक हैं, पर आनन्दध्यानानुगत अध्यवसाय में ध्यान का आलंबन उद्देश्य–रूपी 'यह विषय' होता है, जब कि श्रद्धाध्यानुगत अध्यवसाय में उद्देश्य–रूपी 'यह कर्म' ध्यान का आलंबन नहीं होता। आनन्दध्यान में विषय ही आलंबन होता है, पर श्रद्धाध्यान में आलंबन आत्मा होती है। श्रद्धाध्यानात्मक अध्यवसाय में विधेय रूपी श्रेय या विधि स्वतंत्र आत्मा से अभिन्न होती है। अतएव विधेय रूपी विशेष्य ही ध्यान का आलंबन होता है। आत्मा या विधि के ध्यान में ही उसकी विषयांकाक्षा का निश्चय होता है। विधि के पालन में ही विहित कर्म–विशेष रूपी विषय का अनुसंधानात्मक ध्यान प्रवर्तित होता है। धर्म की प्रवर्तना में, 'इस संदर्भ में मेरा धर्म क्या है', ऐसी जिस जिज्ञासा का उद्रेक होता है, वह जिज्ञासा ही यहाँ ध्यानात्मक विषयाकांक्षा होती है। धर्मध्यान में इस प्रज्ञा का उदय होता है कि 'यह कर्म ही मेरा धर्म है', और यह निश्चय होता है कि यह

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

प्रज्ञा ही उक्त आकांक्षा या जिज्ञासा को तृप्त करेगी। यह निश्चय कि 'यह कर्म धर्म है या श्रेय है', यह निश्चय ही यह है कि 'एतत् कर्म रूपी यह परिच्छिन्न विषय जिज्ञासा रूपी आत्माकांक्षा को पूर्ण कर रहा है।'। पर आनन्दात्मक अध्यवसाय में आत्मभूत जगदभिप्राय रूपी जो विधेय विशेष्य होता है उसके बारे में यह नहीं कहा जा सकता कि वह किसी परिच्छिन्न विषय की आकांक्षा रखता है। अपरिच्छिन्न विषय भी अभिप्रेत हो सकता है, यहाँ तक कि यह भी संभव है कि अभिप्रेत पदार्थ विषय ही नहीं हो। अतएव इस (आनन्दध्यानात्मक) अध्यवसाय में, 'उद्देश्य विषय विधेय आत्मा की आकांक्षा को पूरा कर रहा है', ऐसा निश्चय नहीं होता। जो विषय आत्मा द्वारा अनाकांक्षित हो, उस विषय में आत्मा की सफूर्ति का जागना, अर्थात् आत्मा की अहेतुक स्फूर्ति ही आनन्द–स्फूर्ति है।

श्रद्धाध्यानात्मक अध्यवसाय आनन्दध्यानात्मक अध्यवसाय की तरह ज्ञानेतर निश्चय नहीं होता। उसे ज्ञान ही कहना चाहिये, पर, हाँ, यह ज्ञान विषय–ज्ञान नहीं होता, यह कृत्यात्मक आत्मज्ञान का ही विस्तार होता है। अध्यवसाय मात्र का रूप यह है। 'यह विषय प्रकार है'। उद्देश्य–विषय सर्वत्र ही गृहीत अथवा इन्द्रिय–प्राप्तव्य विषय होता है, और प्रकार विधेय होता है, जो कि ग्रहण–निरपेक्ष आत्मक्रिया घटित आत्माभास होता है। आनन्दध्यानात्मक अध्यवसाय में विषयगत आत्माभास अहेतुक होता है। इसके विपरीत, ज्ञानात्मक अध्यवसाय में वह सहेतुक होता है– आत्मक्रिया में जो विषयाकांक्षा होती है वह जब गृहीत विषय द्वारा पूर्ण होती है, तभी ज्ञान होता है, अतएव इस आकांक्षा इस आकांक्षा को ही इस संदर्भ में हेतु का नाम दिया जा सकता है। इस संदर्भ में 'विषयाकांक्षा' और 'आकांक्षित विषय', ये दोनों एकार्थक हैं। विषयज्ञानात्मक अध्यवसाय के संदर्भ में इस आकांक्षा का नाम 'सूत्रकाल' है। आत्मज्ञान–भूत श्रद्धाध्यानात्मक अध्यवसाय में इस आकांक्षा को 'सूत्र–जगत्' का नाम दिया जा सकता है। धर्म–प्रवर्तना में इस जगत् के अंतर्गत यह अवश्यंभावी जिज्ञासा उठती है कि 'किस कर्म को करना मेरा धर्म है?'– इस जिज्ञासा को जगत् रूपी धर्मक्षेत्र की सौष्ठवाकांक्षा कहा जा सकता है। 'एतत् क्षेत्रोचित कर्म में ही इस क्षेत्र का– अर्थात् आत्मभूत जगत् का – सौष्ठव या कल्याण है', इस निश्चय–कल्पना की अपेक्षा से रूप लेते कल्याण–मूर्ति रूपी सुष्ठु जगत् की आकांक्षा को 'सूत्र–जगत्' का नाम दिया जा सकता है। ज्ञानात्मक और आनन्दात्मक,

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

दोनों अध्यवसायों में ही 'आत्मा' की विषयाकांक्षा पूरी हो रही है', ऐसा विधान–निश्चय जागता है, अतएव दोनों को ही ज्ञान का नाम देना उचित होगा। पर दोनों में प्रभेद यह है कि पहले अध्यवसाय में आकांक्षित सूत्रकाल प्रकारक्रियात्मक आत्मा से अभिन्न होता है, जब कि दूसरे अध्यवसाय में आकांक्षित सूत्रजगत् स्वतंत्र विधि–पालक आत्मा से भिन्न होता है। कांट के मत में काल आत्मा की ग्रहण क्रिया है यह क्रिया आत्मा का ही रूप–विशेष है, पर काल आत्मभिन्न विषय है, इसलिये उसका ज्ञान भर होता है। पर काष्ठाभूत जगत् को काष्ठाभूत आत्मा की क्रिया या रूप–विशेष नहीं कहा जा सकता– उसका प्रत्यय 'यह आत्मा से भिन्न है', इस रूप में ही होता है। अतएव, सूत्रजगत् को आत्मा द्वारा ज्ञेय सूत्राकार नहीं कहा जा सकता, उसे आत्मा का ध्येय प्रतीक ही कहना उचित होगा। कल्याणमय जगत् का धर्म या स्वतंत्र आत्मा के प्रतीक के रूप में ध्यान करने पर जो जगत्–निष्ठ कर्मविशेष रूपी विषय रूप लेता है, उस विषय में हमें आत्माभास का ज्ञान होता है, यह ज्ञान ही श्रद्धाध्यानात्मक अध्यवसाय है।

दर्शन एवं धर्म विभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
वाराणसी - 221005 (उ.प्र.)

सन्दर्भ एवं पाद टिप्पणी –

1. *Kant, I, Critique of Judgement tr. by J. H. Bernard (Hafner Publishing Company, 1959, New York) p. 34; Cassirer, H.W., A Commentary on Kant's Critique of Judgment (Barnes & Noble, Inco, New York, Methuen 8 Co. Ltd. London First Impression 1930 reprinted 1970), p. 169.*
2. बेर्नार्ड द्वारा भावनात्मक बुद्धि की परीक्षा की भूमिका से उद्धृत, पृ. xxii ।
3. *That which gratifies a man is called pleasant; tha which merely pleases him is beautiful; that which is esteemed (or approved) by him, i.e. that to which he accords an objective worth, is good. Critique of Judgment, p. 44.*
4. *...I say that taste can be called Sensus Communies with more justice than sound understanding can, and than the aesthetical judgment rather than intellectual may bear the name of a sense common to all", Critique of Judgment, pp. 137-138.*

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

5. *We could even define taste as the faculty of judging of that which makes Universaly Communicable, without the mediation of a concept, our feeling in a given representation." **Critique of Judgment, p. 138.***
6. हृदयेनाम्यनुज्ञातो यो धर्मस्तन्निबोधत। मनुस्मृति 2.1.
7. श्वेताश्वतरोपनिषद् 4.17 पर शांकरभाष्य।
8. *"Nature is beautiful because it looks like art, and art can be called beautiful*
it *we are conscious it as art while yet it looks like nature" **Critique of Judgment, p. 149.***
9. *"There is no science of beautiful, but only a critique it." **Critique of Judgment, p. 147.***
10. *"Nature, by the medium of genius, does not describe rules to science but to art, and to it only as it is to be beautiful art", **Critique of Judgment, p. 151.***
11. *......properly speaking, what is called spirit; for to express the ineffable element in the state of mind implied by a certain representation and to make it universally communicable" **Critique of Judgment, p. 161.***
12. *Stace, W.T., **A Critical History of Greek Philosophy,** (MacMillan S.T. Martin Press, St. published, 1920, 15th impression, London), p. 232.*
13. ***Critique of Judgment,** p. 86.*
14. *There may be quarrel about taste (although there can be no controversy), **Critique of Judgment,** p. 183.*
15. *Falckenberg, R., **History of Modern Western Philosophy,** tr. Armstrong, A.C. (Calcutta Progressive Publishers, 1968), p. 240.*
16. *Cassirer, H.W., **A Commentary on Kant's Critique of Judgment,** p. 233-234.*
17. *To which we may answer that sublime in nature is impoperly so called and that, properly speaking, the word should only be applied to a state of mind, or rather to its foundation in human nature, **Critique of Judgmnt,** p. 121.*
18. ***Critique of Judgment,** p. 107.*
19. तुलना करें– मात्रा स्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः। आगमापायिनोऽनियास्तांस्तितिक्षस्व भारत।। गीता 2.14, कांट कहता है– *"Freedom is the will's independence of coercion through sensuous impulses" **Critique of pure Reason,** (A. 534, B. 562).*

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

20. मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं रूपं परं दार्शितमत्मयोगात्। (गीता 11.47) तथा देखें–
न भूमिर्न तोयं तेजो न वायुर्न खंनेन्द्रियं वा न तेषा समूहः।
अनैकान्तिकत्वात् सुषुप्त्येकसिद्धस्तदेकोऽवाशिष्टः शिवः केवलोऽहम्।।
दशश्लोकी, प्रथम श्लोक।
21. *Bernard's Introduction to* ***Critique of Judgment****, p. xix.*
22. *Kant, I., 'Observations on the Feeling of Beautiful Subline' Contained in* ***Anthropology, History and Education*** *ed. by Zoller, G. and Louden, Robert, B. (Cambridge University Press, Cambridge, U.K., 2007).*
23. *'Being touched by either is agreeable'* ***Observations on the Feeling of Beautiful and Sublime)****, p. 24.*
24. *... all morality is social; not because we ought to take into account the effects of our acts upon the welfare of others, but because of facts. Others do take account of what we do, and they respond according to our acts. The responses do affect the meaning of what we do. 'Morality is social' in* ***The Philosophy of John Dewey, Vol. IIrd*** *by John J. McDermolt (Capricorn Books G.P. Putnam's sons New York, 1973, p. 714.*
25. *Since nature also wanted to isntill the finer feelings that belong to culture-namely those of sociability and propriety- it made this sex man's ruler through her modesty and eloquence in speech and expression.*
Anthropology from a Pragamtic Point of View*, contained in* ***Anthropology, History and Education****, p. 402.*
26. ***Anthropology froma Pragmatic Point of View****, pp. 231-233.*
27. *"If the universal (the rule, the principle, the law) be given, the judgment which subsumes the particular under it (even if, as transcendental judgement, it furnishes, a priori, the conditions in comformity with which subsemption under that universal is alone possible) is determinant. But if only the particular be given for which the universal has to be found, the judgment is merely reflective, Critique of judgement, p. 15.*
28. Critique of Judgment, p. 16.
29. Critique of Judgment, p. 16.
30. Critique of Judgment, p. 23.

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

31. अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम्।। गीता 18.20.
32. *Symmenty, as wide or as narrow as you may define its meaning, is one idea by which man through the ages has tried to comprehend and create order, beauty and perfection. Herman Weyl, 'Symmetry (Princet on University press, first published, 1952, fifth impression, 1966), p. 5.*
33. *Symmentry is an invariance of an object or system to a transformation. **Symmetry and the Beautiful Universe,** Noble laterate, leon M. Lederman and Christopher, T. Hill (Prometheus Books, New York, 2004, 2nd edition 2008), p. 15.*
34. *Critique of Judgment, p. 80.*
35. *Critique of Judgment, p. 82.*
36. *Critique of Judgment, p. 93.*
37. *Critique of Judgment, p. 219.*
38. *Critique of Judgment, p. 275.*
39. *'In such a product of mature, every part not only exists by means of the other parts, but is thought as existing for the sake ... and the whole-that is an (organic) instruments ... its parts are all organs reciprocally producing one another- Only a product of such a kind can be called a natural purpose, and this because it is an organized and self-organizing being, Critique of Judgment, p. 220.*
40. *Critique of Judgment, pp. 285-286.*

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

संक्लेशव्यवदानपरीक्षा

मूल लेखक-आचार्य ज्ञानश्रीमित्र
हिन्दी रूपान्तरकार - ब्रजकिशोर त्रिपाठी

।। नमः परब्रह्मणे भगवते श्रीरामचन्द्राय।।

अशेषसंसारविकारहीनम्,
आनन्दसंपूर्णसुखाभिरामम्।
अचिन्त्यमव्यक्तमनन्तरूपं
ज्योतिर्मयं राममहं भजामि।।1।।
साकाररूपेण भवप्रवाहः,
संक्लेशनामा न यतो विभिन्नः।
रामो निराकारमयो विमुक्तः,
भवेच्छरण्यः मतिमात्रगम्यः।।2।।
साकारवादमाश्रित्य व्यवस्थेयं सुयुज्यते।
संक्लेशव्यवदानस्य सैवात्रापि निरूप्यते।।3।।

दर्शन के क्षेत्र में किसी भी सिद्धान्त को प्रतिपादित करते हुए उसे तीनों क्षेत्रों तत्त्वमीमांसा, ज्ञानमीमांसा एवं नीतिमीमांसा (कर्ममीमांसा) में परखा जाता है। तत्त्वमीमांसा के क्षेत्र में उससे बन्धन और मोक्ष की साधुतया व्याख्या होनी चाहिए। ज्ञानमीमांसा में प्रमाण–प्रमेय की व्यवस्था होनी चाहिए। इसी प्रकार से उसके द्वारा जागतिक व्यवहार सम्पादन की नीतिशास्त्रीय समस्या का समाधान भी हो जाना चाहिए।

साकारविज्ञानवाद को स्थिरता प्रदान करने के लिए 'ज्ञानश्री' ने "साकारसिद्धिशास्त्र" के द्वितीय अध्याय में संक्लेशव्यवदान (=बन्धन–मोक्ष) की परीक्षा की है। साथ ही द्वितीय, तृतीय एवं चतुर्थ परिच्छेद में प्रासंगिक माध्यमिकों के अनुसार सांव्यवहारिक प्रमाण–प्रमेय व्यवस्था की व्याख्या की है। नीतिशास्त्रीय व्यवस्था को स्थापित करने के लिए उन्होंने भगवान् बुद्ध के मध्यममार्ग की व्याख्या साकार विज्ञानवाद के परिप्रेक्ष्य में करने के लिए 'मध्यमावतार' नामक तृतीय परिच्छेद लिखा है। यहाँ पर संक्लेशव्यवदान

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

की अनुवादपूर्वक संक्षिप्त विवेचना की जा रही है। इस अध्याय में वितण्डावाद का आश्रय लेकर प्रासंगिक माध्यमिकों के अनुसार प्रश्न उठाकर सभी का उत्तर दिया गया है तथा केवल व्यवहारार्थ भ्रमव्यवस्था मानी गयी है।

पूर्वपक्ष –

यदि वास्तव में निराकार विज्ञान नहीं है, तो संक्लेशव्यवदान (=बन्धनमोक्ष) की व्यवस्था का लोप हो जायगा, क्योंकि अतद् में तद् का ज्ञान होने से भ्रान्तिरूप जो उपप्लुत (=आरोपित) आकार समूह है वही संसार है। उस (=संसार) से उत्पन्न वासना–समूह के उच्छिन्न हो जाने से आरोप का विनाश हो जाता है। फलस्वरूप अवशिष्ट जो अमल–आभास प्रकाशमात्र है वही निर्वाण है। इस प्रकार निराकार विज्ञान मानने में कोई हानि नहीं है। अन्यथा साकार विज्ञानवाद मानने में तो–

साकार बुद्धि यदि बाधित है, तो व्यवदान असंगत है (क्योंकि आकार कलाप यदि बाधित है, तो स्वतः सिद्ध अमल प्रकाशरूप व्यवदान सिद्ध ही है और) साकार बुद्धि यदि अबाधित है, तो संक्लेशव्यवस्था दुरवस्थित है। (क्योंकि ऐसी स्थिति में आकार उसका अपना स्वरूप होगा। स्वरूप से किसी का संक्लेश नहीं होता।)

उस स्थिति में सभी ही प्रकार से[1] अविपरीत स्वरूप का संवेदन होगा, जिसके कारण भ्रान्ति का अत्यन्त (=निःशेषरूप से) अभाव हो जायगा। परिणामतः सभी सत्त्व सदैव मुक्त, सदैव सम्यक्सम्बुद्ध की अवस्था में रहेंगे।

विशेष–

(जब भी जिस भी मत में संक्लेश (=भव–बंधन) की व्यवस्था की जायगी उसके लिए भ्रमव्यवस्था अनिवार्य शर्त है क्योंकि भ्रम का ही दूसरा रूप संक्लेश है। पूर्वपक्षी ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि साकारविज्ञानवाद में भ्रमरूप संक्लेश की व्यवस्था नहीं बन सकती। इस समय पूर्वपक्षी के द्वारा सुझाए गये सभी भ्रम के स्वरूपों को तर्क की कसौटी पर कसकर साकारवादी ने दोषयुक्त कर अमान्य कर दिया। आगे चलकर वह स्वमतानुसार भ्रम व्यवस्था भी करेंगे।)

प्रश्न– यदि कहें कि विकल्पिका बुद्धि भ्रान्ति है, क्योंकि वह स्वप्रतिभास (=स्वाभास) रूप अनर्थ में अर्थ का अध्यवसाय करती है, तो–

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

उत्तर–

'स्वप्रतिभास अनर्थ में अर्थाध्यवसाय भ्रान्ति' का निरास –

प्रश्न है कि अवसीयमान होता हुआ वह अर्थ विकल्प बुद्धि के द्वारा प्रकाशित क्यों नहीं होता?अथवा यदि वह प्रकाश्यमान है, तो सविकल्पबुद्धि में प्रकाशित क्यों नहीं होता?यदि कहा जाय कि अर्थ सविकल्पक बुद्धि (=भ्रान्ति) में प्रकाशित होता ही है, तो (उस स्थिति में) अर्थ (और सविकल्पक बुद्धि) का तादात्म्यप्रसंग उपस्थित होगा। (इतना ही नहीं) तब तो अर्थ के न होने पर सविकल्पकबुद्धिरूप भ्रान्ति को नहीं होना चाहिए। (और तब) मान्धाता हुए थे, शंख होंगे, आत्मा है, शब्द नित्य है, इत्यादि बातों का सर्वात्मना निश्चय होता। (और) 'गाय है' इसका स्पष्टतः और अपने स्वलक्षण के साथ प्रकाश होता। (किन्तु) स्वलक्षण (शब्द) संकेत से योजित नहीं किया जा सकता (अतः) 'गौ' यह बुद्धि सविकल्पक ही नहीं होनी चाहिए।

उपर्युक्त कारणों से निराकार विज्ञानवादियों को यह अभीष्ट होना चाहिए कि व्यक्तिविशेष गायों में समानरूप से प्राप्त गोत्व के द्वारा गो बुद्धि होती है जो कि विप्लव के द्वारा (=अनादिवासना के कारण) अलीक, वाचक शब्द से संसृष्ट होकर उस रूप में प्रख्यात होती है और उसी रूप में प्रकाशमान होते हुए 'गाय' वस्तु के रूप में उसका अवसाय होता है। ऐसा मानने पर सारे दोष नहीं होंगे, क्योंकि इस व्यवस्थानुसार अप्रतिभासी स्वलक्षण का भी भ्रान्ति के द्वारा अवसाय होना विश्लेषित हो जाता है।

प्रश्न– जिस प्रकार अलीक गोत्व का गोबुद्धि में प्रकाश और तादात्म्य होता है तथा उससे भिन्न में वस्तुत्व और अनारोपितत्व माना जाता है, उसी प्रकार अलीक नीलादि का भी नील प्रकाश में प्रकाश सिद्ध हो जाने से तादात्म्य सिद्ध हो जायगा, क्योंकि नानारूपों में अवस्थित अलीकों और अनलीकों का एक वस्तु में अविरोध है। (अर्थात् सहस्थिति है। इतना ही नहीं नीलादि के वस्तुत्व एवं अनारोपितत्व को सिद्ध करने के लिए दिए गये अनुमानों में हेत्वाभास भी दिखाया जा सकता है।) यदि वस्तुत्व या अनारोपितत्व साध्य हों और केवल 'तादात्म्य' हेतु हों तो गोत्वादि द्वारा व्यभिचार होगा[2] और यदि 'अनारोपिततादात्म्य' हेतु मानें, तो असिद्धि दोष होगा।[3]

उत्तरपक्ष– यहाँ पर कहा जा रहा है कि,

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

'अतद् में तद्ग्रह' भ्रम का अनुशीलन :–

यदि 'अतद् में तद् ग्रह' नामक भ्रम सबको अभिमत हो, तो यह जैसे अलीक आकार में संगत है उसी प्रकार सत्य आकार में भी।

जलाभावरूप सूर्य की किरणों में लोक को जो जल ज्ञान होता है वह भ्रम है। शास्त्र में स्वप्रतिभास अनर्थ में अर्थ का अवसाय होने से प्रवृत्ति के सम्पन्न हो जाने के कारण अनुमान इत्यादि भ्रान्त ज्ञान कहे गये हैं। अतः 'अतद् में तद् का ज्ञान' भ्रम बताया गया है। इस भ्रम की यदि साकारवाद में अनुपपत्ति है तो अलीकाकार में ही कैसे उपपत्ति होगी, यह विचारणीय है। ज्ञान किसी न किसी सत्य अथवा अलीक आकार के साथ उत्पन्न होता है। अब प्रश्न है कि क्या आकार में बाह्य का आरोप, ज्ञान करता है कि कोई अन्य?यदि मानें कि ज्ञान ही करता है तो प्रश्न है कि ज्ञान उसी समय आकार में बाह्य का आरोप करता है जिस समय वह उत्पन्न होता है अथवा अन्य समय में? यदि कहें कि उसी समय; तो चूँकि जन्मव्यापार से भिन्न ज्ञान का व्यापारान्तर ही नहीं है तो आरोप किससे होगा?यदि माने कि अन्य समय में होता है तो अन्य समय में ज्ञान ही नहीं है, व्यापार किसका?

द्वितीय पक्ष में अन्य ज्ञान भी आकारारोपरूप राग (वासना) की संगिनी उत्पत्ति के अतिरिक्त व्यापारान्तर के द्वारा कहीं भी कुछ भी करने में समर्थ नहीं है। (अर्थात् द्वितीय ज्ञान भी वासनायुक्त उत्पत्ति के अतिरिक्त कुछ भी नहीं कर सकता।) अतः यह अर्वाचीन ज्ञान जब प्राचीन ज्ञान को विषय करता है तो उसके आकार के अंशमात्र का अनुकरण करने के अतिरिक्त बाह्यारोपरूप किसी अन्य व्यापार को स्पर्श नहीं करता; (यदि कहें कि शब्दामुखीकरण अर्थात् शब्दाभिलाप करा देना व्यापारान्तर है तो कहते हैं कि; (रत्न की0नि0, पृ0 134 पं0 11) शब्दाकारता का भी स्वरूप में ही अन्तर्भाव है। यदि आकार को नहीं अपितु बाह्यारोप के लिए व्यापारान्तर को मानें तो, अनुमान में भी ऐसे व्यापार को बताया जाना चाहिए। ऐसी स्थिति में यदि विरोधी कहे कि अधिगति के लिए व्यापारान्तर माना जाता है आरोप के लिए नहीं तो ऐसा नहीं कह सकते क्योंकि अनुमान में स्वलक्षण प्रतिभास का प्रतिक्षेप कर दिए जाने के कारण आरोप' ही माना जाता है। आरोप तो असत्यविषय होता है तो उस स्थिति में अनुमानसिद्ध वह्नि की स्वरूपाधिगति माननी होगी। (फलतः अनुमान में दोष होगा ही।) अत एव आरोप, अवसाय और अभिमान ये सब पर्यायवाची है। (आरोप होते हुए भी अनुमानादि भ्रम

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

कोटि में इसलिए नहीं आते कि) संवादिता और विसंवादिता के कारण ज्ञानों में भेद हो जाता है। (जो संवादी हो वह प्रमाण और जो विसंवादी वह भ्रम) फलस्वरूप सारे विकल्प ज्ञान प्रमाण नहीं माने जाते।

गूढ़ार्थ –

(यह है कि यदि व्यापारान्तर से बाह्यारोप मानें, तो अनुमान में भी ऐसे व्यापारान्तर की आवश्यकता होगी। यदि न मानें, तो यह व्यापारान्तर पूर्व ज्ञान के आकार के अंशमात्र का ग्रहण करता है। ज्ञान का आकार के साथ उत्पत्ति स्वरूप एक व्यापार तो है ही, इस व्यापारान्तर की क्या आवश्यकता है?)

इसलिए आकार से अन्य, ज्ञान का व्यापार नहीं है। (प्रस्तुत सन्दर्भ में) आरोप्यमाण अर्थ बाह्य है। वह यदि ज्ञान में स्वरूपतः परिस्फुटित होता है, तो वह सत्यप्रतीति है, फिर आरोपार्थ कैसा?अपि च स्फुरित होने पर द्वितीय आकार के वेदन का प्रसंग होगा। (अर्थात् स्फुरण होने की स्थिति में अधिकरणभूत स्वाकार के अतिरिक्त आरोप्यमाण आकार के प्रतिभास का भी प्रसंग उपस्थित होगा।) यदि कहा जाय कि तदाकार (=ज्ञानाकार) का स्फुरण ही उस (=बाह्याकार) का स्फुरण है, तो यह सम्भव नहीं है, क्योंकि वह आरोप का विषय है और आरोपविषय (=आरोपाधिकरण) रूप सूर्यरश्मि का स्फुरण ही जल का स्फुरण नहीं है। यदि कहा जाय कि उस (=ज्ञानाकार) के साथ बाह्याकार का एकीकरण हो जाने से ज्ञानाकार का स्फुरण ही बाह्याकार का स्फुरण है, तो प्रश्न है कि एकीकरण क्या है?यदि एकतापत्ति में प्रयोजकता ही एकीकरण है, तो यह असंभव है, क्योंकि आरोप और आरोप के विषय में कभी भी एकीभाव नहीं होता। क्या शशविषाण का कोई कारण (=प्रयोजक) होता है?(अर्थात् शशविषाणोपम आरोप और तद्विषय का जो एकीभाव है उसका प्रयोजक कोई नहीं होगा।) पूर्व मे अनेक किन्तु वर्तमान काल में वह एकता को प्राप्त कर लेता है, ऐसा क्षणिकवादी नहीं मानते। यदि कहा जाय कि एकीकरण अर्थान्तर की उत्पत्तिमात्र है, तो यह भी उचित नहीं, क्योंकि अर्थान्तरोत्पत्तिमात्र स्वाकाररूप आरोपविषय से अन्यत्र ज्ञान का गोचर नहीं होता। वहाँ पर अर्थ की कोई अवस्थिति नहीं है, आरोप कैसा?एकप्रतीति ही एकीकरण हैं यह मानने पर भी, वहाँ दो की प्रतीति नहीं होती क्योंकि आरोप्य का अनुभव नहीं होता (अतः एकप्रतीति एकीकरण नहीं हैं। एकीकरण दो में होता है जो कि

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

आरोप्याभाव के कारण यहाँ पर नहीं है।) दोनों की प्रतीति ही आरोप माना जाय, तो नील और पीत की तरह उस स्थिति में आरोप का गन्ध भी नहीं है। इसी से 'एकत्वरूप में प्रतीति आरोप है, का भी निरास करना चाहिए। यदि बाह्य प्रतीत हो, तब यह विचारणीय होगा कि वह एकत्व, अनेकत्व, सत् अथवा असत्‌रूप प्रतीत हो रहा है कि नहीं। वह तो प्रतीत ही नहीं हो रहा, फिर ये चर्चाएँ क्यों?

'जितने भी आकार हैं उनके तिरस्कार से जो प्रतीति होती है, वह एकप्रतीति है' यदि ऐसा कहा जाय तो सर्वाकार के स्वरूप का तिरस्कार हो जाने पर एकप्रतीति का प्रतिभासन ही नहीं होगा। यदि कहा जाय कि सर्वाकार के स्वरूप के किसी अंश का प्रतिभासन होने से ऐक्यप्रतीति होगी तो ऐसा भी संभव नहीं है, क्योंकि वस्तु निरंश होती है अतः वस्तु का या तो सर्वात्मना प्रतिभास होगा या सर्वात्मना अप्रतिभास। पर (=पूर्वपक्षवादी के) मत में यहाँ शास्त्र का ही विस्तार किया गया है। 'अध्यवसाय से ऐक्यप्रतीति होती है' यदि ऐसा माने, तो उत्तर देते हैं कि 'विकल्प' नाम वाला वह अध्यवसाय स्वाकार से अतिरिक्त बाह्य की बात को भी नहीं जानता, यह तो बताया जा चुका है। 'अभेदप्रतीति ही ऐक्यप्रतीति है' ऐसा मानने पर 'अभेद' में यदि पर्युदास माने, तो ऐक्यप्रतीति का ही प्रतिपादन होगा, उसका खण्डन किया जा चुका है। प्रसज्यप्रतिषेध मानने पर भेदप्रतीति का निषेधमात्र प्राप्त होगा इससे बाह्य की प्रतीति का प्रतिपादन तो होता नहीं, फिर आरोप कैसे सिद्ध होगा। 'भेदप्रतीति नहीं होती' केवल इतना कहना तो उपयोग विहीन है क्योंकि इससे अभेद= ऐक्यप्रतीति की व्यवस्था नहीं सिद्ध होती और आरोपविषयमात्र की प्रतीति को छिपाया भी नहीं जा सकता। 'अभेद प्रतीति का अनुवाद है 'ऐक्यप्रतीति' ऐसा कहने में कोई विशेषता (=भिन्नता) नहीं है।

इसलिए जितना ही विचार करते हैं उतना ही आरोप्य की सिद्धि नहीं होती, अतः आरोप कुछ है ही नहीं। यदि जिस किसी तरह से उसके प्रतिभास की परिभाषा की जाय और फिर उसके आरोप से भ्रम की व्यवस्था बनायी जाय, तो यह अलीक आकार की तरह सत्य आकार में भी हो सकता है, परन्तु इसे तात्त्विक व्याख्यान नहीं कह सकते। निराकारवादी कहता है कि यदि आकार के स्वरूप का निर्भास होता है फिर भी उससे भ्रम की ठीक से संगति नहीं बन सकती, तो भ्रान्ति की अवस्थापना कैसे होगी? (साकारवादी उत्तर देता है कि) किसी भी तरह नहीं बनेगी यदि आप विचार

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

में आदर रखते हैं। हाँ, अविचारित रमणीय और बच्चे–बच्चे में प्रसिद्ध व्यवहार का आश्रय लेकर 'पुद्‌गलादि' की भाँति आरोप का भी व्यवहार करते हैं। किन्तु विचार करने पर समाप्त ही हो जाता है।

जिस प्रकार व्यवहार का आश्रय करके आत्मा, बाह्य एवं संवाद से प्रमा का व्यवहार किया जाता है, उसी प्रकार अनेकत्व और भ्रम का भी व्यवहार होता है।

फलस्वरूप जब तक विचार न किया जाय तभी तक 'संसार' है और जब स्वरूप परीक्षण किया जायगा तो 'निर्वाण' है।

'भव (=संसार) का परिज्ञान ही निर्वाण है।'

यह न्याय है। भव का परिज्ञान कैसे होगा, असत् भ्रम से वास्तव में प्रवृत्त्यादि कैसे होगी, यह बताया जायगा। निराकारवादी वास्तव में जिस प्रकार से भ्रम की व्यवस्था को उपस्थित करता है वह हम जानते हैं। निराकारवादी की भी यदि परारोपरूप भ्रान्ति न हो, किन्तु अलीकाकार योग ही भ्रान्ति हो?परारोपरूप भ्रान्ति का त्याग करके ही कल्याण है, क्या अनुचित है?

अलीकाकारयोग भ्रान्ति का निरास–

प्रथम असंगति तो यह है कि लोक और शास्त्र का अतिक्रमण होता है। लोग रस्सी में सर्प के आरोप से भ्रम का व्यवहार करते हैं। ज्ञान किसी आकार से युक्त होकर लोक का स्पर्श नहीं करता। इस सर्पारोप का निरूपण कितनी कोटियों तक जायगा इसमें कोई उद्यम नहीं है और विरोधी इसको परिणाम तक भी नहीं पहुँचा सकेगा। लोक इस लक्षण वाली भ्रान्ति का व्यवहार करता है यह सिद्ध है।

शास्त्र में भी स्वप्रतिभास में अर्थ के अध्यवसाय से प्रवृत्ति को भ्रान्ति कहा जाता है। स्वप्रतिभास अनर्थ रूप ही हो यह आवश्यक नहीं है। दृश्य और विकल्प के एकीकरण का भी यही अर्थ है। यहाँ पर भी विकल्पगम्य अर्थ अलीक ही हो यह आवश्यक नहीं है। दृश्य के आरोप से भ्रान्ति का व्यवहार होता है। परन्तु यह अविचारितरमणीय है, क्योंकि निर्विकल्पक प्रत्यक्ष में भी चन्द्रद्वय मिलिततया दिखाई देते हैं और विकल्प उसी में अपने व्यापार का आरोप करता है।

चूँकि भ्रम निर्विकल्प में भी होता है, अथवा भ्रमत्व के अविकल्प होने पर भी वह विकल्प से भिन्न नहीं है। अत एव विकल्प में विश्रान्त भ्रम, निर्विकल्प में भी कहा जाता है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

परिणमास्वरूप सर्वत्र परारोप के कारण ही भ्रान्ति मानी जानी चाहिए। उसका समाधान न करके अन्य परिभाषा बताने से बढ़कर और कौन सी अयुक्ति हो सकती है। यदि मानें कि (पूर्वपक्षी कहता है कि अलीकाकार का ज्ञान के साथ) अयोग (=असम्बन्ध) होने से (अलीकाकारयोग भ्रान्ति का) परिहार (=निरास) हो जाता है तो यह कौन सा दोष है?(यदि कहें कि तुमने ही तो इस भ्रान्ति के) समर्थन के असामर्थ्य को स्वीकार कर लिया है। (तो वह पुनः कहता है कि) यदि ऐसा है, तो–

व्यवहार सिद्ध भ्रम ठीक है परन्तु विचार इसका विरोधी है। हमारा अभिमत इतने से ही सिद्ध हो जा रहा है। विशेष कथन तो अभिनिवेशमात्र है।

यह व्यवहारसिद्ध सांवृतिक भ्रम सत्याकार और अलीकाकार दोनों ही पक्षों में समान है। केवल हम निराकारवादियों ने आकार की अलीकता स्वीकार कर ली है। यह आकार अन्तिम समय तक स्थित न रहे इसलिए अभिनिवेश के लिए भ्रम का आपादन किया गया है, नहीं तो संक्लेशव्यवदान तो अन्य प्रकार से भी सिद्ध हो जायगा।

जहाँ तक विचार से भ्रम का नाश हो जाय तो सुन्दर है और यदि आकार सर्वथा असत् है तो उससे भी ज्यादा सुन्दर है।

अत एव प्रयत्न से विचार करने में परिश्रम करना ही ठीक है। जो (सत्) है उसको यदि हटाया (=न माना) जायगा, तो इसमें विद्वानों को संदेह हो सकता है।

ये दो मध्यपाति श्लोक हैं।

परिणामस्वरूप भ्रम अलीक से उत्पन्न है, और क्या? इसे न मानने वालों का भी इतना ही आग्रह है कि यह दूसरे का मत है, हमें स्वीकार्य नहीं है। इसमें प्रत्यक्षतः किसी न्याय का उल्लंघन नहीं है। ऊपर जो यह कहा गया है कि सम्बन्धाभाव से उसका निराकरण हो जाता है तो इसका अर्थ हुआ कि ऐसे सम्बन्ध को न जानने वाले 'असत्प्रकाश को भ्रान्ति' मानते हैं। यह उनकी कैसी सम्बन्धदृष्टि है?

'असत् (प्रकाश=) प्रतिभास भ्रान्ति' का निरास –

असत्प्रतिभास का क्या तात्पर्य है?1. असत् जो ईश्वरादि हैं उनकी ख्याति (=प्रतिभास), 2. भासमान आकार असत् है अथवा 3. कोई भी सत् ख्यात (=प्रकाशित) नहीं होता। वहाँ पर (यदि प्रथम पक्ष मानें तो दोष देते हैं–)

जिसका स्वरूपतः निर्भास होता है वह ही असत् कैसे हो सकता

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

है? यदि बाधा के कारण उसकी असत्यता मानी जाय, तो प्रश्न है कि प्रत्यक्ष और अनुमान में किस में बाधा होती है?

यदि एक स्थान पर प्रत्यक्ष (की सत्यता) पर अविश्वास किया जाय, तो अन्यत्र भी विश्वास नहीं किया जा सकता। (अर्थात्–स्वरूपान्तर निर्भासरूप प्रत्यक्षात्मक बाधकज्ञान में भी विश्वास नहीं किया जाना चाहिए तथा)[5] ऐसी स्थिति में प्रत्यक्षपूर्वक होने वाले अनुमान में भी विश्वास कैसे किया जाय?

स्वरूपसाक्षात्कार के कारण प्रत्यक्षता ही होती है, उससे अन्य नहीं। अतएव, विकल्प और भ्रम की भूमि (=आश्रय) ही बाधित है।

यदि उस (=विकल्प) की अध्यक्षता नहीं, तो उसका स्वरूप निर्भास भी नहीं। इसलिए 'असत ईशादि का प्रतिभास होता है' ऐसा कहना असंगत है।

यदि उसका प्रतिभास हो रहा है, तो इसका वह प्रतिभासितरूप सत् ही है। 'वह असत् है (और) प्रतिभासित हो रहा है' यह आपको असत् (=गलत) प्रतिभात (=मालूम) हो रहा है।

इससे ही दूसरा पक्ष भी निरस्त समझें, क्योंकि प्रतिभास से ही यदि सत्ता सिद्ध हो गयी, तो बाधा का अवकाश नहीं है। प्रश्न करते हैं कि –

द्विचन्द्रादि का प्रतिभास होने पर भी उसका बाधित होना दृष्ट है। दृष्ट में अनुपपत्ति नहीं मानी जाती, अत एव पूर्वोक्त (प्रतिभास से सत्ता सिद्ध होने पर बाधा के अवकाश का न होना) को भी असत् मानिए?

उत्तर देते हैं कि आपका कथन भी असत् है, क्योंकि बाध्य का प्रतिभास नहीं होता और जिसका प्रतिभास होता है वह बाध्य नहीं होता। यथा कि,

बुद्ध्याकार का निर्भास होता है, बाधा तो बाह्य वस्तु की होती है। रूप का ही निर्भास होता है, बाधा तो स्पर्शादि की भी होती है।

इस रूपमात्र–प्रतिभास का रूप, रस, गन्ध और स्पर्श के समुदाय विशेष के रूप में अध्यवसाय होता है, इसीलिए केशोण्डुक में कर परामर्श का उद्यम संभव है। (चूँकि अध्यवसाय रसादिसहचरित रूप का होता है) तो बाधा भी उनसे सहचरित रूप की ही होगी न कि रूपमात्र की। सम्पूर्ण लोक इस प्रकार (=समुदायात्मा) के अर्थ का अर्थक्रियार्थी है, अतः उसके साधन की सिद्धि और बाधा में ध्यान देता है, न कि जिस किसी के।

नपुंसक की सुरूपता अथवा कुरूपता की परीक्षा से कामिनी को क्या लाभ?

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

तत्त्वचिन्तक ही प्रयोजनान्तर की अपेक्षा से सामान्यादि की भी परीक्षा करते है। जो केवल रूप का प्रतिभास होता है और जो सहचारी चार रूपादि समुदायरूप से अंध्यवसित होते हैं उन दोनों के अभेद का अभिमानी लोक विवेचनाभाव के कारण 'यह असत् है' अथवा 'यह अलीक है' इस प्रकार का व्यवहार करता है। इस अभिमान से जितना भी विधान या प्रतिषेध है; सबका पर्यवसान अध्यवसित (अर्थ) में है क्योंकि अन्य (=अध्यवसित) के आरोप से तत् (=प्रतिभासित) रूप का प्रच्छादन होता है। अतएव शब्दार्थ[6] की भाँति तत्त्वतः उस (=प्रतिभासित) अर्थ का बाध नहीं है। जिस समुदाय की बाधा है उसका प्रतिभास नहीं होता। यह सिद्ध हो गया।

अतः अभिमान के कारण प्रतिभासी अर्थ की बाधा भी यदि हो, तो कोई हानि नहीं है, क्योंकि तत्त्वतः तो बाधा नहीं है। संसार में ऐसी सांवृतिक ऊँची–नीची बातें होती रहती है। हम वास्तविक विचार करना चाहते हैं। पूर्वोक्त प्रकार[7] से जो कहा कि "प्रतिभास (=तद्) का स्फुरण नहीं होता, फिर भी अवसाय होता है तो असत् प्रकाश होगा तथा अभेदाभिमान होने पर असत् अभेद की ख्याति होगी। अन्य (=अध्यवसित अर्थ) के आरोप से (=प्रतिभासित अर्थ का) प्रच्छादन भी तब तक नहीं हो सकता जब तक कि अन्य (प्रतिभासित अर्थ) का प्रतिभास न हो।" ये सारे आरोप लोग गला फाड़कर लगाएँगे, लेकिन यदि आँख बन्द करके सोचेंगे तो स्वयं पर हंसेंगे। हमने तो कहा ही है कि अध्यवसाय का भी अन्य (=प्रतिभासित) में आरोप का प्रकार, आकार विशेष को त्याग कर नहीं है। अनात्म (=अस्वरूप) का संवेदन भी नहीं माना जाता, लोक को स्वाकार का निषेध अभिमत नहीं है तथा संभव भी नहीं है। स्वरूपनिर्भासी के निषेध का विरोध है। असत् ईश्वरादि का यही (=विकल्प में परिस्फुरित)[8] स्वरूप नहीं है, अन्यथा असत्त्व का ही अभाव प्रसक्त होगा। इसलिए साकारवाद में जो यह कहा गया कि 'नित्यादिसत् ही होंगे' वह स्वरूप से ही पतित है (अतएव त्याज्य है)।

प्रतिभास में बाधा हो तो भी निषिद्धोपलब्धि वाले असत् की सत्ता नहीं है, क्योंकि निषेध का निषेध जो किया गया है।

यदि जिसके स्वरूप का निर्भास हो रहा है वह बाधक के कारण सत् न हो तो स्वरूपान्तरनिर्भासी बाधक (ज्ञान) में भी कैसे विश्वास किया जाय?

(फिर भी यदि असत्ख्यातिवादी कहें कि) बाधकज्ञान अन्य स्वरूप

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

का उपनयन (=विषयतया ग्रहण) करता है। अतः पूर्वज्ञान के स्वरूप का निवारण हो जाता है, तो इस बाधक ज्ञान में भी संशय का जन्म उसी कारण से होगा जिस कारण पूर्व ज्ञान में बाधा की उपलब्धि की बात कहीं गयी है।

पुनश्च यदि कहें कि अक्षजज्ञान के अग्रहण में यही बाधा है (कोई) अन्य नहीं। तो फिर इस (=आपादनीय अन्य बाधा) से पूर्व वाली बाधा ही (इस बाधक ज्ञान की भी बाधा) हो जाय; क्योंकि (बाध्य और बाधक दोनों ज्ञानों में) स्वरूपनिर्भास समान है।[9]

यदि आप स्वरूपनिर्भास में भी बाधक के संभव होने को मानेंगे, तो आपके पास इसके लिए कोई प्रमाण नहीं हैं कि आगे भविष्य में उत्तरज्ञान में कोई बाधा नहीं होगी।[10]

इस कारण–

(आप असत्ख्यातिवादी) 'स्वरूप का निर्भास न होने' के कारण के अन्वेषणरूप विप्लव (=परेशानी) से पहले से ही ग्रस्त है, यदि बाधशंका का विनिर्भास भी इसी रूप में मान लिया जाय, तो यह (आपके लिए) महान विप्लव (बड़े परेशानी, विकट परिस्थिति) की बात होगी।

ये अन्तरपाति श्लोक हैं।

इस प्रकार असत् प्रकाश (=ख्याति) का सभी प्रकार से निरास हो गया। विना अर्थावसाय के केवल शब्दश्रवणमात्र से प्रत्युज़्जीवन का उपाय हो रहा है। इससे बढ़कर और क्या उपहास का कारण हो सकता है?

प्रमाण से जिसका निरास हो गया है उसको शब्द से जीवन प्रदान किया जा रहा है। यह तो उसी प्रकार का खेल है जैसे कि किसी को सर्प ने काट लिया हो और उसे मन्त्र के प्रभाव से जीवित किया जाय।

स्वमतानुसार भ्रमव्यवस्था का अनुशीलन –

विशेष–

(अब यहाँ से साकारवादी पूर्व में अन्यों के द्वारा उपस्थापित भ्रान्ति के लक्षणों का अपने अनुसार संगति करना चाहता है। पूर्व में खण्डन का क्रम पराभ्युपेत सिद्धान्तानुसार था अब उसी को स्वमतानुसार लगाकर उसी रूप में व्यवहारार्थ स्वीकार करते हैं। भ्रान्ति के सारे लक्षण यथा कि 'अतद् में तद् का आरोप', 'अलीकाकार योग', 'अलीकस्फुरण', या 'अभेदाध्यवसाय' की स्वमत में व्याख्या करेंगे।)

इसलिए इतना ही उचित है कि सज्जन विद्वान् अपने अथवा पर के

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

मतानुसार 'आत्मा' अथ च, 'गोत्व' आदि शब्दों के प्रयोग की व्यवस्था और उसके कारण की खोज का जिस तरह सम्मान करते हैं उसी प्रकार भ्रम के उपयोग की व्यवस्था एवं उसके कारण के अन्वेषण के प्रति भी आदरशील हैं। ऐसी स्थिति में वास्तविक अर्थ यह है कि– विविध अनादि वासना बल के कारण विशेष प्रबोध (=ज्ञान) के प्रत्यय (=कारणसामग्री) की अपेक्षा से विकल्प किसी आकार के साथ उत्पन्न होता हुआ ही बाह्यमुखी प्रवृत्ति के अनुकूल अर्थक्रिया के स्मरण और अभिलाप[11] के प्रबन्ध (=की संतति) को धारण करता है। अतः पुरुषार्थक्रिया के इच्छुक लोगों की प्रवृत्ति और निवृत्ति विषयक अवधारणा बाह्य अर्थ के अनुरूप होती है। साधारण लोगों के ज्ञान क्षण की सन्तान उसी प्रकार के हेतुफलभाव से नियत होती है। जहाँ अर्थसम्बन्ध का विकल्पकाल अनिश्चित है वहाँ पर भी सत्ता और असत्ता सम्बन्धी निर्णय प्रवृत्ति के अनुसार आविर्भूत होते हैं।

वहाँ पर इस प्रवृत्ति–साधन–सामर्थ्य के उभयथा (शक्त और अशक्त) होने की जो बात कही गयी है वह स्वहेतुबल से आयात है। इसी प्रवृत्तिविषयत्वारोप को 'अध्यवसाय' इस नाम से सम्बोधित किया जाता है। 'स्ववेदन भी कार्यतः से अर्थसंवेदन ही है' ऐसा समझना चाहिए' इस न्याय के कारण चन्द्रदर्शन के निश्चय का जनन ही चन्द्रज्ञान का ग्रहण व्यापार है, भले ही वह ज्ञान भ्रान्त हो अथवा अभ्रान्त, उसी प्रकार 'यहाँ पर अग्नि है' इत्यादि आकार के साथ उत्पन्न हो रहा विकल्प ही प्रवृत्त्यारोपतया बाह्यावसान कहा जाता है। जिस प्रकार निर्विकल्प द्विचन्द्रादि की आकारता ही उस प्रकार के आकार का साधन है, उसी प्रकार अवसाय की तादृश आकारता ही अन्य विषय के विमुख प्रवृत्ति का साधन है।[12] अतएव निर्विकल्प के आकार का अवभास जो कि अनधिगत अर्थ का कारण है वह आरोप के अधिकरण के रूप में और आरोप्य ज्ञान' पृथक्–पृथक् रूप में व्यवस्थापित होते हैं।

प्रश्न करते हैं कि यदि ऐसी ही स्थिति है, तो जिन तीन प्रकार के असत् की[13] व्यवस्था की गयी है वहाँ व्यवस्था का अर्थ तो प्रतीति ही है, फिर असत्प्रतीति से मुक्ति कहाँ?उत्तर देते हैं कि अरे! बहती गंगा में हाँथ धोना है। बताया गया है कि तद् (=अध्यवसित) के अनुरूप प्रवृत्ति का आक्षेप ही है– तद् (=अध्यवसित) का आरोप है न कि परप्रतीति। त्रिविध असत् का अध्यवसाय है– 'अनादरादि अवस्था स्वरूप व्यवहार' और 'यह असत् है'

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

इत्याकारक फलीभूत ज्ञान। ये दोनों बातें असत्प्रतीति की तरह[14] यहाँ होती हैं अतः कोई दोष नहीं है।

उक्त प्रकार से अन्यत्र भी इस प्रकार के क्षुद्र उपद्रवों में ऊहन कर लेना चाहिए। सभी विकल्पों की अतद् में तद्ग्रहरूप भ्रान्ति अनुभवानुसारिणी यही है। व्यवहार में यही दृश्य और विकल्प का एकीकरण कहलाता है। स्वप्रतिभास के वेदनमात्र से जो पर (=अध्यवसाय) में प्रवर्तनशक्ति है उसी की अपेक्षा से पररूप द्वारा स्व (=प्रतिभास) की प्रच्छादनशक्ति का व्यवहार होता है। (यह प्रच्छादनव्यवहार अध्यवसाय सापेक्ष है)। प्रतिभाससापेक्ष में तो पर (=अध्ययवास) रूप, स्व (=प्रतिभास) से प्रच्छादित होता है, क्योंकि प्रकाश (=विज्ञान) तो उसी का होता है। इस प्रकाश के कारण सत् होता हुआ भी बाह्य निर्विषय है अर्थात् वह विज्ञान का विषय नहीं है। आकार तो उस विज्ञान का अपना ही रूप है। आकार का अध्यवसाय नहीं होता। यही कारण है कि अपोह की तीन प्रकार से स्थिति होती है– 1. अध्यवसायानुसार, 2. प्रतिभासानुसार और 3. तत्त्वानुसार।

शब्द का विजातिव्यावृत्त, बाह्य अभिधेय यदि मानना हो, तो (शब्दजन्य) विकल्प (ज्ञान) में प्रतिभास और अध्यवसाय के अपोह द्वारा भेद करना चाहिए।

प्रश्न करते हैं कि बाह्य का अभाव है इसलिए उसका प्रतिभास नहीं होता। ध्वनि (वर्ण) से उत्पन्न विजातिव्यावृत्त (=भिन्न) वस्तु (यहाँ पर अक्षरानुक्रमवान् शब्द 'ग् औ' आदि) का अध्यवसाय नहीं होता। (जिस गवाकार का अध्यवसाय होता है वह शब्दजन्य विजातिव्यावृत्त आकार नहीं है।) फिर तो वास्तव में शब्द का कोई वाच्य ही नहीं है, तो अपोहार्थ क्या है?

उत्तर देते हैं कि अपोह स्पष्ट रूप से 'यह है' इस प्रकार का कुछ भी नहीं है।

पूर्व श्लोक में आए 'शब्द के अभिधेय' का यहाँ भी सम्बन्ध है जिससे अर्थ स्फुटित हुआ कि 'शब्द का अभिधेय कुछ भी नहीं है।' इसका निष्कर्ष यह हुआ कि 'अपोह वाच्य है' इसका तात्पर्य यह है कि वाच्य का निषेध है, क्योंकि अपोह और निषेध समानार्थक हैं; जैसे कि 'अभाव है' का अर्थ है कि 'भाव नहीं है।' इसलिए स्वलक्षण शब्द का विषय नहीं है।'[15]

सूत्र में जो कहते हैं कि 'जिस जिस धर्म द्वारा (येन येन धर्मेण)[16] इत्यादि।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

इतने ही मूल में अपोहवादियों की कितनी शाखाएँ प्रस्फुटित होंगी इसमें कोई अवरोध नहीं है। चूँकि विकल्प का बाह्यनिश्चय स्वभाव है– बहिर्मुखप्रवृत्तिहेतुता। यह निर्धारित है। इससे ही सर्वाकार का निश्चय भी प्रसक्त होता है। यह सर्वाकार निश्चय, सर्वाकारानुरूपप्रवृत्ति के उपयोगितया निश्चितरूप वाला होगा। एक आकार का उल्लेख करने वाले विकल्प की प्रवर्तनशक्ति आकारान्तर में अनुभव का विषय नही होती, फिर शब्दप्रमाणान्तर की अनपेक्षा कैसे?" स्पष्ट प्रतिभासी होने से निर्विकल्पक (ज्ञान) को ग्राहक (के रूप में) व्यवस्थापित किया जाता है। सविकल्पक (ज्ञान) आरोपकादि के रूप में व्यवहृत होता है क्योंकि विकल्प स्पष्ट एक (आकार) की व्यावृत्ति का उल्लेख करता है। ऐसी स्थिति में सभी विकल्प बाह्य का विना स्पर्श किए, चाहे बाह्य हो या नहीं; प्रवृत्ति के प्रयोजक होने के कारण भ्रान्त कहे जाते हैं। इस प्रकार के विकल्प के उत्पादन की शक्ति का गर्भाकारयोग (=जिसके अन्दर ऐसा आकार) नहीं है वह निर्विकल्प भी भ्रम है। (यथा कि, द्विचन्द्र का निर्विकल्पज्ञान)।

उक्त अर्थ का संग्रहश्लोक है–

व्यावृत्ति भेद का अनुसरण करने वाली, स्वाकार से उत्पन्न, दृष्ट फल यथा कि स्मृत्यादि का विस्तार (उत्पत्ति) करने वाली सभी विकल्पबुद्धियाँ निर्विषय ही हैं। ये प्रत्यक्ष की तरह निरपेक्षतया ही लोक की प्रवृत्ति को आकृष्ट करती हैं। (यही सूर्य की) रश्मियों में तडागादि के जल का आरोप स्वरूप वस्त्वारोप कहलाता है।

परिणामस्वरूप उक्त प्रकार से प्रवृत्तियोग्यता को प्राप्त जिस 'बाह्य कलाप' का अध्यवसाय होता है उसका प्रतिभास नहीं और प्रतिभासी आकार का कोई बाधक नहीं है।

अध्यवसित की अर्थक्रिया में कोई विवाद नहीं है, क्योंकि अर्थक्रिया में जो पिहित (=छिपा) है ऐसे (स्वलक्षण) का पृष्ठभावी है– अध्यवसाय; उस अध्यवसाय की अर्थक्रिया की हानि नहीं है। हाँ कलाप विशेष से साध्य अर्थक्रिया की हानि है अतः उस (=कलाप विशेष) का अभाव है। फलस्वरूप प्रतिभासमान की बाधा दृष्ट है ऐसा कैसे कहते हैं?व्यापकानुपलम्भ की अपेक्षा करने पर तो पूर्वोक्त सारी बातें आवृत्त होंगी।

व्यापकाभाव का विचार करने पर तो 'न जल रहेगा न जहाज' इसलिए साकारवाद में किसी अन्य दोष को दिखाकर संक्लेशादि की परीक्षा

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

करनी चाहिए। सभी ज्ञानों का सत्य स्वाकार संवेदन मानने पर भी अनन्त काल से चले आ रहे वासना–बीज से उत्पन्न, व्यवहारप्रसिद्ध भ्रमत्व का आश्रय लेकर संक्लेश की हानि नहीं होगी। जिस प्रकार से बाह्य के होने पर कहीं/कभी भ्रम व्यवस्था की जाती है उसी प्रकार सर्वत्र अन्तर्नय[18] (आन्तरिक भावों के क्षेत्र) में भी (भ्रम व्यवस्था) होती है। इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि केवल बहिर्मुख प्रवृत्ति की अपेक्षा से की जा रही कोई (व्यवस्था) अपने में भ्रम नहीं होती।

जो भी ज्ञान जिस रूप में भासित होता है उसका वही रूप होता है।

इसी प्रकार शब्द योजना में भी बाह्य का अवसाय होने के कारण बाह्य में ही विकल्पकत्व और अस्पष्टता है। ज्ञानान्तर के सापेक्ष केवल वही अर्थ स्पष्टतया अवस्थित होता है। ज्ञान के आकार का व्यभिचार न होने से सामग्री विशेष से उत्पन्न उस स्वाकार ज्ञान में विकल्प व्यवस्था कैसे हो सकती है?(अर्थात् – नहीं)। यह ज्ञान भी जब अन्य को विषय न बनाते हुए (केवल 'स्व' को) शब्द से योजित करना चाहता है, तो उस स्थिति में भी पर में ही (शब्द) योजना होती है, स्व में नहीं। (तात्पर्यतः ज्ञानाकार का शब्दाभिलाप नहीं हो सकता। जिसका अभिलाप होता है वह ज्ञान का स्व आकार नहीं है, पर है।) इस सम्बन्ध में शास्त्र विचारणीय है अत एव 'बुद्धि विकल्पक ही न हो' (अर्थात् वह निर्विकल्पक स्वरूप वाली मानी जाय) यदि आप ऐसा कहें तो, बुद्धि के स्वरूप की दृष्टि से आपके इस पक्ष में सिद्धसाधन का दोष है (अर्थात् हाँ, यह सच ही है क्योंकि बुद्धि स्वरूपतः निर्विकल्पक होती है)। हाँ, बाह्य की अपेक्षा से अध्यवसाय की व्यवस्था के कारण सविकल्पक ही है।

यदि कहें कि अरे! यह तो हम वस्तु के स्वरूप निर्भास के बल से कहते है तो उत्तर देते हैं कि साकारवाद में यह कहना ही बड़ा साहस है। यदि कहें कि अध्यवसाय से उसका आकर्षण होता है तो यह उचित नहीं है, क्योंकि उसकी अन्य प्रकार से व्यवस्था की जाती है। यदि उस वस्तु का स्फुरण होगा तो अवसाय नहीं किन्तु प्रतिभास ही प्राप्त होगा। इसीलिए 'अप्रतिभासमान स्वलक्षण का भी भ्रम से विकल्प में अवसाय होता है' यह कहना युक्त नहीं है। अवसाय के द्वारा स्वलक्षण का वित्तिस्पर्श होने से अतिरिक्त प्रतिभास की अन्य कोई स्थिति तो होती नहीं। (यदि कोई यह कहे कि) उस (=स्वलक्षण विषय) का ज्ञान होने पर भी अस्पष्टता के कारण

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अध्यवसाय होता है, तो उसका यह कहना अयुक्त है क्योंकि तद्रूप (=स्वलक्षण) की वित्ति होने पर अस्पष्टता का ही अभाव होता है। आचार्य धर्मकीर्ति ने कहा है– "सामान्य चेतना के कारणभूत इन्द्रिय और शब्द अन्योन्यज हैं। ऐसी स्थिति में स्फुट और अस्फुट इन दो भिन्न आकारों में जिनका अवभास होता है, वे भला एक ही वस्तु के रूप कैसे हो सकते हैं।[19]

तब तो उस समय इस रूपवाली भ्रान्ति नहीं होगी, क्योंकि वहाँ पर वस्तु के स्वरूप का निर्भास हो रहा है। यदि विरोध पक्ष से यह कहा जाय कि अलीक में वृत्ति[20] होने से (भ्रान्ति) होती है तो हमारा कहना है कि ऐसा ही हो, किन्तु स्फुरित न होते हुए बाह्य का अध्यवसाय कैसे हो सकता है? यदि कहा जाय कि 'वह ही वह है' (=अलीक में वृत्ति ही बाह्य का अध्यवसाय है) तो (यह दृष्टव्य है कि) 'अलीकमिदम्' ऐसी बाह्याध्यवसाय की कोई व्यवस्था विद्वानों के पास नहीं है। यदि कहा जाय कि बाह्याध्यवसाय में अलीक का विकल्प नहीं किन्तु स्ववेदन होता है, तो उत्तर देते हैं कि यह तो पुनरुक्ति मात्र होगी। इससे अभिमत अर्थ की अभिव्यक्ति नहीं होगी, क्योंकि बाह्यरूप के स्पर्श के अभाव में जब कहा जाता है कि 'यह अलीकाकार ज्ञान है' तो इस कथन से ही अवसाय का कथन हो जाता है। दोनों कथनों में कोई भेद नहीं है। फलस्वरूप जिस प्रकार अलीकाकार ज्ञान बाह्य से सम्बन्ध नहीं रखता उसी प्रकार अवसाय भी बाह्य का सम्बन्धी नहीं है। यदि बाह्य का अभाव है, तो बाह्यबोध के अभिमान से प्रयोज्य ('बाह्यस्य' में) षष्ठी कैसे हो सकती है।

परिणामस्वरूप परम्परा से प्राप्त अलीक का ज्ञान यदि भ्रम है, तो इसी प्रकार से अनलीक (के ज्ञान में) भी कोई दोष नहीं है।

ऐसी स्थिति में जो कहा जाता है कि, 'अभिलाप–संसर्ग–योग्य–प्रतिभास– विशेष ही बुद्धि का अर्थाध्यवसाय कहलाता है', उसका निरास हो गया। इसका कारण यह है कि 'अर्थ का' यह सम्बन्ध उपपन्न नहीं है और ज्ञान में भ्रम नहीं है।[21] दूसरी बात यह भी है कि अध्यवसाय का यही लक्षण मानिए– 'अलीक प्रतिभास', अभिलाप संसर्ग–योग्य विशेषण देने की क्या आवश्यकता है? यदि कहें कि निर्विकल्पक से भेद करने के लिए है, तो कहते हैं कि अनलीकवाद (=जो आकार को अलीक नहीं मानते) में भी इस विशेषण से संयुक्त ज्ञान ही भ्रम माने जाते हैं, न कि सभी ज्ञान; अतः संक्लेश–व्यवदान का अभाव सर्वथा नहीं है, क्योंकि हम अनलीक (=साकार) वादी

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

एक विशेष ज्ञान का ही भ्रमाभाव अर्थात् संक्लेश के अभावात्मा निर्वाण के रूप में विश्लेषण करते हैं। दोनों ही मतों में 'अभिलाप–संसर्ग–योग' पर (=अवसाय) के सापेक्ष है, कोई हानि नहीं है। उस (=अवसाय) की प्रतीति न होने पर भी उसका अवसाय होता है।[22] यही दुरवस्थारूप दोष है। लेकिन यह समस्या तो हम दोनों (चाहे अलीकवादी हों या अनलीकवादी) में समान है।

अतः गम्भीर विचारोपरान्त भी यही समझना चाहिए कि प्रतीति के न होने पर भी[23] मात्र शक्तिविशेष के कारण बाह्य[24] की ओर प्रवृत्ति का आक्षेप करता हुआ बाह्य ज्ञान के आरोप के कारण यह अध्यवसाय होता है कि यह (=अध्यवसाय) 'बाह्य का' है। फलस्वरूप बाह्य के साथ सम्बन्ध हो जाने के कारण (वह) बाह्य वृत्ति को भी प्राप्त कर लेता है। ऐसी स्थिति में आकार सत्य हो या अलीक क्या अन्तर होगा?जब यह स्थिति है, तो यह जो आरोप लगाया गया कि 'अवसेय अध्यवसित रूप में ज्ञात होकर जब अर्थ के साथ तादात्म्यभाव को प्राप्त करता है (तो भ्रान्ति होती है) और जब अर्थ है ही नहीं तो[25] भ्रान्ति नहीं होनी चाहिए' यह सब कथन अनुपपन्न है। यही परेशानी है कि विना देखे (=प्रत्यक्ष किए) ज्ञान, अर्थ में प्रवृत्ति करा देता है। इसी कारण विकल्पाकार भी अपोह को वाच्य मानने पर अर्थ का स्पर्श न होने के कारण सर्वाकार बोध (देखें पादटिप्पणी सं0 16) का प्रसंग कैसे होगा?

आचार्य धर्मकीर्ति ने भी कहा है कि, सामान्यबुद्धि में प्रतिभासमान सामान्याकार उपप्लव (=भ्रान्त) है अतः वह भी बाहर नहीं है, जिससे कोई दोष नहीं है।[26] एक व्यावृत्त्याकारता के कारण उसी में प्रवृत्ति का आक्षेप होता है।[27] पुरुष इतने से ही सन्तुष्ट हो जाता है वह और किसी पर विचार नहीं करता। तद् (=एकव्यावृत्त्याकारता) मात्र का लाभ न होने पर उसे विसंवाद (=अप्रमाण) कहा जाता है। 'जो सत् होते हुए भी बुद्धि में प्रकाशित नहीं होता वह असत् है, तर्कों से दूर हैं।' प्रकाशमान का असत्त्व नहीं है। ऐसी स्थिति में गोत्व के उदाहरण द्वारा असत् नील का प्रकाशन और तादात्म्य की कल्पना कैसे?[28] इससे ही 'नाना रूप निष्ठयोः'[29] का निरास हो गया। असत् और प्रकाश का विरोध सिद्ध होने के कारण 'एक वस्तुनि'[30] कहना अयुक्त है। नीलव्यतिरिक्त प्रकाशवस्तु का अभाव है, अत भेदकल्पना में कोई प्रयोजन नहीं है क्योंकि दोनों में किसी एक का निषेध कर देने पर दोनों का निषेध सिद्ध हो जाता है।

एक जगह में प्रतिभासित होने वाले का अन्यत्र निषेध जैसे कि, घट

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

में पटत्व का निषेध अथवा भिन्नरूप में प्रतिभासमान शशक, मसक का निषेध कल्पित का ही होता है।[31] लेकिन केवल अतद्व्यावृत्तिमात्र से जिनके भेद की व्यवस्था की जाती है ऐसे अभिन्नप्रतिभासमानों में यह न्याय नहीं है कि एक कल्पित का निषेध किया जाय। (उपरोक्तानुसार एक के निषेध कर देने पर दोनों का निषेध हो जायगा।)

प्रश्न करते हैं कि क्या वर्ण और संस्थान के अभिन्न प्रतिभासन होने पर भी संस्थान असत् है? उत्तर देते हैं कि नहीं; वहाँ पर भी अवयवसंयोगनामक[32] कल्पित भिन्न संस्थान का ही निषेध है न कि परिमण्डलादिव्यवहारगोचरदशा से व्यावृत्ततया उदित चतुरस्रादिशब्दवाच्य वर्णात्मा का। उसी प्रकार यहाँ भी भिन्न कल्पित प्रकाश अथवा नील का निषेध है, न कि नीलात्मा (प्रकाश) अथवा प्रकाशात्मा (नील) का; क्योंकि इनका अभिन्न प्रतिभास होता है। इसलिए नील का वस्तुत्व अथवा अनारोपितत्व यदि साध्य हो, तो गोत्वादि में प्रकाशात्मकत्व हेतु का जो व्यभिचार दिया जाता है वह बाह्य कल्पित असत् की अपेक्षा से नहीं दिया जाता, क्योंकि उसका प्रकाश नहीं है।[33]

प्रकाशभूत बुद्ध्याकार की अपेक्षा से (उक्त अनुमान में) साध्याभाव नहीं है। गोत्वाकार प्रकाश का किसी के द्वारा आरोप नहीं होता, क्योंकि तद् भिन्न आरोपक नहीं है, और स्वहेतु से स्वयं गोत्वाकार प्रकाश की ही निष्पत्ति होती है। न तो अपने से अपना और न ही अन्य से अन्य का आरोप होता है। यदि ऐसा माने, तो (आरोप) नाममात्र है वास्तविक नहीं। ऐसी स्थिति में प्रकाशात्मा सर्वत्र अनारोपित ही होता है, इसमें असिद्धि का गन्ध भी नहीं है। किंच, आरोपित तो (मृगतृष्णिका के) जलादि की तरह अस्फुट होगा। नील की प्रकाशता स्फुटतर प्रतीत होती है। (अस्फुट पक्ष में पूर्वोक्तानुसार) भिन्न (कल्पित) नील की तरह भिन्न प्रकाश का अथवा (स्फुट पक्ष में) नील की तरह सत् प्रकाश की ख्याति नहीं प्राप्त होती।

निष्कर्षतः भाष्यकार के व्याख्यान से अन्यत्र जहाँ–जहाँ तर्क में और आगम में 'असत् प्रतीत हो रहा है' या 'अलीक प्रतीत हो रहा है' यह प्रतीति होती है वहाँ पर अध्यवसित की अपेक्षा से या फिर व्यावहारिक अभिप्राय से ऐसा कहा गया है। भाष्यकार तो तद् (=असत् या अलीक) आकार के रूप में कल्पित बाह्य के द्वारा साध्य अर्थक्रिया के अभावमात्र से अलीकादि का व्यवहार करते हैं। उसके अनुवाद से यह बाह्य का निषेधमात्र

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

है। वास्तव में तो 'सत् भिन्न असत्' और 'इष्ट भिन्न अलीक' कहलाते हैं। और ऐसा भी है जब नित्याकारा बुद्धि होती हैं उस समय अनेक कालव्यापीरूप से उत्पन्न होने के कारण आकारवान् नित्य सत् ही होगा, यह कहना भी कुछ उचित नहीं है क्योंकि अनुकरणमात्र से तदाकारता होती है न कि तादात्म्य से; यदि तादात्म्य से तदाकारता (=बुद्ध्याकारता) हो जाय, तो अग्निविकल्पमात्र से भी दाह प्रसक्त होने लगेगा। अतः जिस प्रकार भिन्न आकार के होते हुए भी विस्तृतदेशव्यापी बरगद वृक्ष पत्रमात्र से ढके जा सकने वाले दर्पण तल में स्थित प्रतिबिम्ब के द्वारा तद्रूप में प्रतिभासित होता है उसी प्रकार क्षणिक बुद्ध्याकार से नित्य का अनुकरण कर लिया जाता है। इसमें अनुभव भी प्रमाण है यथा कि जिस समय नित्य आत्मा आदि का विकल्प होता है उस समय यदि तादात्म्य से बुद्ध्याकार का अनुकरण हो, तो वह विकल्प बुद्धि सकलकालव्यापिनी होनी चाहिए और अन्य कोई बुद्धियाँ नहीं होनी चाहिए। किन्तु विकल्प बुद्धि ऐसा नहीं करती, अतः मानना होगा कि क्षणिक बुद्ध्याकार, नित्य आत्मादि का अनुकरण करता है।

(आकार को) अलीक मानने पर भी तावत् (=उतने) काल तक व्याप्त नित्याकार को अलीक नहीं मानना चाहिए; नहीं तो, तदनुरूप (=नित्याकारानुरूप) सत् और असत्रूप से विचारादि की प्रवृत्ति का आक्षेप नहीं हो सकेगा। इस कारण लेश (=अंश) मात्र के अनुकरण से अलीकाकार विकल्प हो जाता है, कालव्याप्ति की आवश्यकता नहीं है। जिस प्रकार ऊर्ध्व दण्डादि की प्रतिकृति यदा कदा निचले, ऊपरी या मध्यम भागों से बनायी जाती है उसी प्रकार नित्य की भी अतीत, अनागत और वर्तमान कालों से उपलक्षित सर्वावस्थाजन्य एक विकल्पज्ञान में अनुकृति बनती है। इस प्रकार नित्याकार बुद्धि के क्षणमात्ररूप में उत्पत्ति का विरोध नहीं है। परिणामस्वरूप जो असत् है वह प्रतिभासित नहीं होता, किन्तु अध्यवसित होता है, यह पहले भी बताया गया है। जो स्वाकार से प्रकाशित होता है, वह असत् नहीं है। निष्कर्षतः 'असत्ख्याति' नामक भ्रमलक्षण असंभव होने से नहीं है।[34] इसलिए तृतीय प्रकार भी कि '(भासमान आकार) सत् है, तथापि प्रकाशित नहीं होता' अयुक्त है क्योंकि 'सत्ता प्रकाश से व्याप्त होती है' और 'अप्रकाश असत्ता से ग्रस्त होता है।'

आशंका–

आप साकारविज्ञानवादियों के अनुसार प्रकाश (=प्रतिभास) वस्तु

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

की सत्ता का साधक प्रमाण है किन्तु प्रमाण की निवृत्ति हो जाने पर अर्थाभाव हो जाय ऐसा नहीं होता। (वस्तुतः) अर्थक्रियाशक्ति ही सत्त्व (का लक्षण) है। उस (=अर्थक्रियाशक्ति) का अप्रकाश के साथ विरोध भी नहीं है।

समाधान–

(आपका) यह (कथन) सत्य है क्योंकि बाह्यार्थवाद में हम भी अप्रकाश के अर्थक्रियासामर्थ्य को स्वीकार करते हैं। (किन्तु) केशोण्डुकादि के प्रतिभास में जो अध्यवसित है उसकी अर्थक्रियाशक्ति के वियोगमात्र से (सत्ता) के अभाव की सिद्धि हो जाती है। जहाँ सर्वथा बाह्याभाव है वहाँ पर चूँकि प्रकाश (=प्रतिभास) ज्ञान का अव्यभिचारी होता है इस कारण तत्क्षण ही उसके सत्त्व की सिद्धि हो जाती है, उसे अर्थक्रिया से क्या प्रयोजन है?

ज्ञान के सत्त्व का अन्य द्वारा अपहरण कैसे हो सकता है? यदि प्रकाश के कारण ही इसके सत्त्व को नकारा जाय तो अर्थक्रिया भी तो सभी के लिए नहीं होती। यदि कहा जाय कि क्वचित् रूप में ही सही अर्थक्रिया होती तो है, तो हमारा प्रश्न है कि क्या उसका भासन नहीं होता? पुनश्च,

तत्त्वतः बाह्य अर्थ के प्रसंग में भी सत्त्व, प्रकाश के द्वारा ही अभिप्रेत होता है। हाँ, व्यावहारिक प्रतिपत्ता के अभिप्राय से अर्थक्रियापूर्वक सत्त्व की व्यवस्था की जाती है।

विना प्रकाश के केवल अर्थक्रियाशक्ति के आधार पर, सत्ता असिद्ध ही रहती है, क्योंकि अर्थक्रियाशक्ति यदि ज्ञात नहीं है, तो 'अर्थ में वह क्रियाशक्ति है' यह ही सिद्ध नहीं हो पाता। यदि कहा जाय कि अन्य शक्ति के बल के अर्थक्रियाशक्ति का ज्ञान होता है, तो इस स्थिति में अनवस्था की प्राप्ति होगी।

यदि अर्थक्रियावादियों का उत्तर हो कि कार्य के द्वारा अर्थक्रियाशक्ति का ज्ञान होता है, तो यह उत्तर समीचीन नहीं है, क्योंकि कार्यता परापेक्ष है अर्थात् कार्य अपने हेतु प्रत्यय की अपेक्षा से उत्पन्न होता है। ऐसी स्थिति में परापेक्ष कार्यता अर्थक्रियाशक्ति का ज्ञान कैसे करा पाएगी, शक्ति का निश्चय कैसे करा पायेगी? परिणामतः अर्थक्रियाशक्ति का ज्ञान अथवा निश्चय न होने से वहाँ अनिश्चय की स्थिति रहेगी। यदि उत्तर दिया जाय कि शक्ति का निश्चय न होने पर भी अतद्व्यावृत्तितः हमें कार्यता का ज्ञान हो जाता है, तो पुनः प्रश्न है कि जब शक्ति का ही निश्चय (ज्ञान) नहीं है, तो उसकी कार्यता के ज्ञान होने की बात कैसे संभव है? उत्तर में

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

कहा जा सकता है कि कार्यता वस्तु का स्वभाव है, साथ ही अतद्व्यावृत्तिस्वभाव भी; क्योंकि ऐसा नहीं मानने की स्थिति में अकार्यता ही कार्यता होगी, साथ ही केशोण्डुकादि की भी कार्यता माननी पड़ेगी। ज्ञानश्री का कहना है कि उपर्युक्त स्थिति में भी अव्यभिचारी होने से प्रकाश का ही सत्त्व मानना पड़ेगा।

विरोध पक्ष से कहा जा सकता है कि 'जो आरोपित होते हैं उनकी सत्ता नहीं होती', तो प्रश्न है कि 'क्या प्रकाश भी वैसा नहीं है?' यदि विरोधी कहे कि प्रकाश तो एकीकरण के चलते होता है, अतः 'वैसा नहीं है', तो प्रश्न है कि फिर 'कार्यता भी वैसी कैसे?' अर्थात् फिर कार्यता को तो वैसा (=वस्तुस्वभाव) नहीं होना चाहिए। चूँकि जैसे फल का अभाव होने पर साधन (=प्रमाण, कारण) भी नहीं होता, वैसे ही साधनाभाव की स्थिति में फल भी नहीं होता, अतः वस्तुत्व में संदेह होने पर कार्यतादि में भी सन्देह होगा। उपर्युक्त कारण से सामर्थ्य अर्थात् शक्ति का विनिश्चय अभ्यास के सामर्थ्य के कारण होता है। इससे यह भी सिद्ध हुआ कि प्रकाश ही उसका (=अभ्यास के सामर्थ्य का) सत्त्व है अथवा बुद्धि उसका ही कार्य है।

इस (=बुद्धि) के सत्त्व का ज्ञान कार्यान्तर से नहीं होता, अपितु वह स्वसंवित्ति रूप है। गोचर तो व्यभिचरित हो सकता है किन्तु अपनी बुद्धि कभी व्यभिचरित नहीं हो सकती।

यदि किसी को इसमें संदेह हो, तो कार्य में अभ्यास से विनिश्चय हो जायगा। अतः तत्त्वतः बाह्य में भी सत्ता प्रकाश के कारण ही होती है।

उपर्युक्त विधि से सत्त्व की बात करने पर क्षणभंगवाद को भी क्षति नहीं पहुँचती, क्योंकि ज्ञान के द्वारा एकक्षण का ज्ञान होता है और नित्यवादियों के सामर्थ्य के क्षरण में ज्ञान का कादाचित्कात्मक होना एक लिंग स्वरूप है।

यह ठीक है कि शास्त्र (वार्तिक और भाष्य) में दृश्य के धी (= दृश्य के प्रकाश या ज्ञान) को ही सत्ता कहा गया है और उसके असत्त्व को अधी (=प्रकाशाभाव) कहा गया है। यह व्यवस्था व्यवहार और अर्थक्रिया की हानि की अपेक्षा के बिना की गयी है।

वहाँ (=उपर्युक्त प्रकरण में) अर्थक्रिया में (स्वतः की) शक्ति का न होना भी बाधक नहीं है। हाँ, यह विशेष बात दृष्टव्य है कि वहाँ दृष्टि को सत्त्व और अदृष्टि को असत्त्व कहा गया है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

पुनश्च किसी को कदाचित् कहीं पर भी अनुमानतः प्रकाश होता है (ऐसा कहा जाय तो) बाह्यार्थवाद के प्रति आदर रखने की स्थिति में प्रकाशाभाव को मिथ्या दिखाना चाहिए।

पुनश्च (यदि कहा जाय कि) अनुमिति के अभाव में भी विकल्प ही प्रकाशन (=ज्ञान) (इसमें स्थित रहता) है, तो उस स्थिति में विकल्प से जिन्हें प्रकाश होता है उनके लिए सत्ता जिस प्रकार की होगी ज्ञान भी उनके लिए तादृश होगा।

अर्थक्रिया को चाहने वाले सभी लोग फलागम के द्वारा ही वस्तुता (=तथता और सत्त्व) की प्राप्ति करते हैं और उस वस्तुता में भी प्रतिभास को क्रिया के आश्रय के रूप में स्थापित करते हैं।

इस प्रकार कोई हानि नहीं है। प्रारम्भ किया गया अर्थात् स्वीकृत प्रमाण तो व्यावहारिक हैं। इसी कारण अर्थक्रियाशक्ति को सत्ता कहा जाता है जो कि सत्त्व का स्वभाव ही है और (तत्त्वतः) शुद्ध ही है। निष्कलुष ही है। इस प्रकार सत्ता द्विविध है– 1. व्यावहारिक अथवा शक्तिलक्षण सत्ता और 2. तात्त्विक अर्थात् प्रतिभासलक्षण सत्ता।

आशंका–

प्रतिभासमान आकार के शक्त्यभाव के कारण सत्त्व की प्राप्ति नहीं होगी इस मनोरथ से 'शक्ति सत्त्व कहलाएगी?'

समाधान–

आकार के बिना शक्ति में कोई प्रमाण नहीं है इसलिए आपका मनोरथ सिद्ध नहीं होगा। आकार के अर्थक्रियाकारित्व का निषेध भी नहीं किया जा सकता, क्योंकि अद्यतन अनुच्छिद्यमान, सदसदादिनिर्णयरूप उपादेयक्षणरूप अध्यवसाय और तदारब्ध प्रबन्ध (=तज्जन्यसन्तानपरम्परा) की उत्पत्ति में आकार का नियत प्राग्भावित्व दृष्ट है। यदि ऐसा न मानें, तो कहीं पर भी कार्यकारणभाव की सिद्धि नहीं होगी। (फलस्वरूप आकार शक्त्यभाववान् नहीं है।)

प्रश्न– यदि कहें कि आकार व्यतिरिक्त प्रकाश उक्त अध्यवसाय एवं तदारब्ध प्रबन्ध का कारण है?

उत्तर– अन्वय–व्यतिरेक से आकार की शक्ति प्रत्यक्ष ज्ञात है, तथापि कारणता दूसरे की मानी जा रही है, यह तो राजकुलस्थिति (=जबरदस्ती) है।

यदि मानें कि जिस प्रकार वह्नि, धूम के प्रति कारण है फिर भी धूम

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

के प्रति ही इन्धन की कारणता का वारण नहीं करती, उसी प्रकार प्रकाश आकार की कारणता का वारण नहीं करता। दूसरी बात यह भी है कि यदि एक की अपेक्षा से पर का कर्तृत्व हो, तो दोनों का कर्तृत्व माना जाता है, जिस प्रकार भावानुवृत्ति (=तत् सत्त्वे तत् सत्त्वम्) के सामर्थ्य से धूम के प्रति वह्नि और इन्धन की कारणता मानी जाती है।

नीलसापेक्ष प्रकाश यदि किसी का कर्त्ता माना जाय तो वह्नि सापेक्ष पिशाच की धूम के प्रति कारणता प्राप्त होगी। (इससे नीलानुषंगी केवल प्रकाश की कारणता का निषेध हो गया)। इसी कारण केवल अविद्या ही कारण नहीं मानी जाती क्योंकि दृष्टसामग्रीसापेक्ष कारणता का कहीं पर भी निवारण नहीं किया जाता है।

अन्यथा (दृष्टसामग्रीसापेक्ष कारणता का वारण होने पर) यह सम्पूर्ण विचित्र जगत् कर्म से उत्पन्न है उसी की कारणता माननी होगी। इससे तो जगत् के अन्य कारणों का लोप हो जायगा। फिर तो पुरुषार्थ करने का कोई फल नहीं होगा।

भावाभावानुकार (=तत्सत्त्वे तत्सत्ता तदभावे तद्भावः, कारणादि की सत्ता में कार्यसत्ता कारणादि के अभाव में कार्याभाव) के विना कहीं भी कार्यकारणभाव नहीं होता और भावाभावानुकार होने पर कहीं भी कार्यकारणभाव का अभाव नहीं होता।

अनीलाकार दर्शन से नील दर्शन का अवसाय नहीं होता क्योंकि वर्ण के व्यतिक्रम (=शुक्ल से अन्य वर्ण की प्रतीति) होने पर शुक्ति में रजत का आरोप नहीं होता।

समानजातीय रूप के रहते हुए भी यदि भेदज्ञान का भ्रम उपस्थित हो तो रूपी का आरोप किया जाता है क्योंकि अंगार के देखे जाने पर रजत का आरोप नहीं होता।[35]

यदि दैववश अन्यथा देखा जाय तो वहाँ आरोप्य और आरोपाधिकरण में जातिभेद मानना चाहिए। जैसे (अग्नि के अभाव में भी) योगिनिर्मित धूम। (यह धूम वह्निजन्य धूम से भिन्न जातीयक धूम है)।

जिस प्रकार बाह्य बीज के सत्त्व और उसके हेतुत्व के कथन में बीजाकार विज्ञान को कारण माना जाता है उसी प्रकार अंकुराकार विज्ञान के जन्म में भी समझना चाहिए। (अर्थात्– अंकुराकार विज्ञान ही भ्रान्ति के कारण बाह्य अंकुर के रूप में प्रतीत होता है। इस प्रकार बाह्य में

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

साकारविज्ञान की संगति बन जाती है।) इसलिए बाह्य अर्थ का निराकरण करके उसके स्थान में ज्ञान को स्थापित करते हुए 'प्रत्यय (=विज्ञान) ही उत्पन्न और निरुद्ध होते हैं' ऐसा कहा गया है।[36]

यदि माना जाय कि व्यावहारिक ज्ञान से अंकुर का कारण बीज को न मानकर बीज के व्यापक पार्थिवत्वादि को मान लिया जाय तो कहते हैं कि फिर प्रकाश को ही कारण माना जाय न कि अभिव्यक्ति को।

बाह्य नील का जो अर्थक्रियादि फल दिखाई पड़ता है उसी फल के न होने से केशादिज्ञान से दृष्ट केशोण्डुक की वस्तुता नहीं मानी जाती।

अर्थक्रिया के अभाव के कारण उस केशोण्डुक का तत्त्वतः निषेध करें। क्रियान्तर से युक्त की क्या वस्तुता ही नहीं मानी जाती।

क्रियान्तरयुक्त की यदि वस्तुता माननी चाहिए तो क्या पर्वत की गुफा से निकलते हुए (अर्थात् क्रियान्तरयुक्त) सर्प में निर्झर का भ्रम होने पर निर्झर की क्रिया के अतिक्रमण के कारण उस निर्झर की वस्तुता मान ली जाय?

अवसेय की अर्थक्रिया का अर्थी मनुष्य उस (=अवसेय) की अर्थक्रिया की प्राप्ति न होने पर बुद्धिरूप उस (=अवसेय) को असत् कहता है, क्योंकि उस अवसेय में ही लोगों को सत्ता का अभ्यास है। अतः सत्ताभाव भी उसी में देखते हैं। अभ्यस्त पुरुष सत्तावान् अवसेय के अनुरोध से निर्भ्रम रूप में अभिमत ज्ञान में (अवसेय को) 'असत् प्रतीत हो रहा है' ऐसा कहता है। इससे (परि) कल्पित का निषेध भी हो जाता है।

कल्पित बुद्धि के कारण अवसेय स्ववेद्य नहीं है किन्तु अन्य है और वह सत् नहीं है। यही कारण है कि गोत्वादि असत् कहे जाते हैं। वे आकार के अप्रकाश से असत् नहीं कहे जाते।

अवसेयरूप से जिस प्रकार द्विचन्द्र का अभाव है उसी प्रकार एकचन्द्र का भी। दोनों की एक ही अवस्था है।

यह उपर्युक्त व्यवस्था अध्यवसाय की दृष्टि से है। वास्तव में तो केशादि अनर्थाभिनिवेश होने से 'सामान्यलक्षण' नहीं है, न कि अनर्थ होने से (अर्थात्– जो अर्थक्रियायुक्त अध्यवसेय को अर्थ मानते हैं उनकी दृष्टि से केशादि सामान्य नहीं हैं) क्योंकि ज्ञानरूपतया केशादि की स्पष्ट प्रतीति मानी जाती है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

केशप्रतिभासी इन्द्रियज्ञान सामान्यविषय अनर्थाभासी कहा जाता है। बाह्यावसाय के कारण असत् कहा जाता है।[37]

तथा –

ज्ञानरूप होने के कारण सामान्य में यदि अर्थत्व प्रसक्त है, तो अभीष्ट ही है। कोई दोष नहीं है। इस प्रकार ज्ञानरूप केशादि और सामान्य में अर्थरूपतया समानता है।[38]

शब्दार्थ अप्रतिक्षेपभाक् (=अतद्व्यावृत्तिरूप अपोह) धर्मी है और वह अनेकों बार इसीलिए

यथाप्रतीति (=प्रतीत्यनुसार) कहा गया है कि "यह शब्दार्थ असत् है।"

भाष्य में विस्तार से ज्ञानात्मस्वरूपता बतायी गयी है। यदि भासन ही प्रतीति है और प्रतीति अनुसार सत्त्व की व्यवस्था होती है, तो यह ज्ञानरूपता ही सत्ता है। इसमें बाह्य की भाँति कोई बाधा नहीं है। व्यापकाभाव बाधा नहीं है। अशक्ति दोष बाह्यार्थ मानने में होते हैं।

शब्दार्थ, प्रतीति द्वारा व्यवस्थापित है। शब्दजन्य ज्ञान में ज्ञानरूपता ही प्रतीत होती है। किन्तु सभी प्राणियों को इस ज्ञानाकार में अध्यवसाय बाह्यतया होता है। उस बाह्याकार के असत् होने पर भी सत्त्वाख्यान यथातत्त्व (=ज्ञानरूप तत्त्वानुसार) किया जाता है। इसलिए धातुत्रय, ज्ञान मात्र है और वह ज्ञान चित्राकार है।

'सर्वं शून्यं शून्यं, सर्वं क्षणिकं' इत्यादि शब्दों में भी इसी तरह परिश्रम है। (अर्थात्= प्रतीत्याश्रित ज्ञानरूप अर्थ में इन शब्दों का प्रयोग किया जाता है। बाह्यत्वेन अध्यवसाय होता है। बाह्यत्वेन असत् होने पर भी ज्ञानरूपतया सत्ता मानी जाती है इत्यादि)। इस तरह से यह सिद्ध है कि साकारविज्ञान ही अर्थाभासी कहा जाता है। (अर्थात् है तो केवल साकार विज्ञान, किन्तु भ्रम से उसे बाह्यार्थ विषयक कहा जाता है)।

अर्थार्थी जन की अनादिवासनाओं के कारण अर्थ प्राप्ति की अभिलाषा जन्म लेती है जो कि अर्थ के प्रति प्रवृत्ति या निवृत्ति को आरोपित करती है। इस अभिलाषा के जन्म के सामर्थ्यगर्भ से, अभिलषित के अवांछित बाह्यरूप की उत्पत्ति होती है। ये प्रवृत्तिनिवृत्तियाँ ही संसार हैं जो अनिष्टरूप के उदय में ही संभव हैं। इनका कारण कैसे उपस्थित हुआ इसकी खोज करनी है। अद्वैत (=विज्ञप्तिमात्रता) के शिखर में आरूढ विद्वान के लिए तो प्रवृत्तिनिवृत्तिरूप संसार नहीं है। इस वासनाप्रयुक्त अभिलाषा से उत्पन्न अनिष्टरूप विकल्पित बाह्य का निषेध स्वयं कृत है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

जिस प्रकार बालक भ्रम से 'दर्पण में रूप है' ऐसा जानता है लेकिन उसे ज्ञानाकार में रूप है बताकर दर्पण में आरोप का निवारण किया जाता है। उसी प्रकार भ्रमवश प्रतीत जो भावों में भावत्व और ज्ञानाकारों में बाह्यत्व है उसका निराकरण किया जाता है। साधारण लोगों को जैसे बुद्धि होती है उसका अनुवाद करके आरोप का वारण किया जाता है।

जिस प्रकार तैमिरिक के द्वारा देखे गये दो चन्द्रमाओं का चन्द्रत्व असत् है उसी प्रकार ऊँचा–नीचा न होने के कारण दर्पण में प्रतिभासमान रूप का बाह्य के साथ ऐक्य नहीं है।

आरोपित हो रहे रूपादि के दर्पणादि में अन्तः प्रविष्टतया निर्भासित होने मात्र से पृथक्त्व नहीं हो जाता। इससे आकारसंज्ञक भावों की ज्ञानरूपता ही लक्षित होती है।

लोक में दर्पण की तरह ज्ञान को एक सामान्यार्थाभिधायी 'ज्ञान' इस रूढ शब्द से अभिहित किया जाता है। 'ज्ञान' इस रूप में सामान्यतया व्यवहार भी किया जाता है। वह ज्ञान आकारसंज्ञक भावों से पृथक की तरह प्रतीत होता है।

प्रतिबिम्ब सदृश आकार न तो दर्पण में और न ही चन्द्रद्वय अथवा बाह्य में सत् हैं। स्वरूप विरह की प्राप्ति होने से ज्ञान का बाह्य के साथ ऐक्य नहीं है। (ज्ञान चैतन्य रूप और बाह्य जड़ रूप होने से स्वरूप–विरह है)।

(ग्राह्य) से ज्ञान का अन्यत्व नहीं है क्योंकि इस प्रकार के ज्ञानाभाव की प्राप्ति होती है। जिसका प्रकाश नहीं होता उसकी सत्ता नहीं है। उक्त सरल क्रम से आदर्श में प्रतिबिम्ब की बिम्ब से न तो एकता है और न ही अनेकता।[39]

परिणामस्वरूप दर्पणस्थ प्रतिबिम्ब सदृश आकार, ज्ञान के साथ एकानेकतया युक्ति सिद्ध नहीं है। योगी निराभास में स्थित होता है, क्योंकि आभास तो कल्पना है।

एक (=ज्ञान) की व्यावृत्ति करके जो बाह्य का ईषद् आभास होता है वह समन्त (=समग्र) आभासी समूहाभास की तरह प्रपंच (=कल्पना) है।

चित्राकार विज्ञान में कल्पनारूढ वैचित्र्य (=अनेकत्व) का त्याग कर देना चाहिए।

शेष समान है।

अथवा, बाह्य ग्राह्य की हानि हो जाने से ग्राहक की स्थिति का भी

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

वारण हो जाता है। इस प्रकार से तथता (=विज्ञानाद्वैतता) में अवस्थित हो जाने पर चित्रमात्र (=अनेकत्वमात्र) का उच्छेद हो जाता है।

आचार्य धर्मकीर्ति ने भी कहा है–

एक ग्राह्य अथवा ग्राहक का अभाव हो जाने से दोनों ग्राह्य और ग्राहक का अभाव हो जाता है इत्यादि।

आरोप्य की हानि से आरोपविषय (=आरोपाधिकरण) की भी स्थिति नहीं होती। इस प्रकार चित्रोच्छेद दृष्टि विज्ञानाद्वैत की अवस्था स्वरूप है इत्यादि।

फलस्वरूप–

लोक में चित्र (=वैभिन्न्य) विज्ञानाद्वैतमात्रतया स्थित हैं। विद्वान लोग इस तरह से ही तत्त्व का निर्धारण करते हैं।

आचार्य नागार्जुनपाद ने भी कहा है कि–

महाभूतादि (=पृथिव्यादि पाँच) के विज्ञान होने की अवस्था में उक्त वैचित्र्य की संभावना होती है लेकिन तत् (=विज्ञानाद्वैत) के ज्ञान हो जाने पर मिथ्या विकल्प का नाश हो जाता है।

चिन्तामयी प्रज्ञा[40] में असत्त्व का अधिमोक्ष[41], अर्थ का रोध अर्थात् अर्थ की सत्ता और उसका ज्ञान ये सब विज्ञानरूप का साक्षात्कार हो जाने पर क्षीण हो जाते हैं।

बाध हो जाने पर नाम, निमित्तों और आकार की हानि नहीं होती। योगियों की दृष्टि में धर्म नाममात्र[42] है अथवा कल्पित रूप हैं।

इसे और भी प्रकार से सोचें

जिस प्रकार आगन्तुक मल (धूल आदि) से आकाश मलिनरूप वाला प्रतीत होता है और मल के ध्वंस हो जाने पर वह निर्मल हो जाता है। (आकाश सर्वदा एकरस निर्मल ही है, मलिनता आगन्तुक है)। उसी प्रकार ज्ञेय का सम्पर्क होने पर ग्राह्य–ग्राहकरूप द्वैत और ज्ञेयरहित विज्ञान अद्वैतरूप होता है। वास्तव में वह निर्मल आकाश की तरह ज्ञेयनिर्विशिष्ट अद्वैतरूप है।

यह विज्ञान दीप सन्तान की भाँति प्रकाशमात्र है क्योंकि इसमें 1. अप्रकाश के अंग (=अंश) का अभाव रहता है और 2. स्वाकार प्रकाशनता भी होती है।

भ्रम के पूर्व भी अप्रकाश के लेशमात्र की संभावना नहीं है। प्रकाश

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

की समल अथवा अमल स्थिति तो भ्रम के सापेक्ष है। वास्तव में तो वह सर्वदा निर्मल है।

युवराजराज (कुमारनाथ) ने हेतुपरतन्त्र विचित्र जगत् में ज्ञान और ज्ञेय का जो परिकल्पित असत्रूप है उसे ही इस द्वैत से विविक्त (=रहित) ज्ञान के एक रूप अर्थात् अद्वयरूपता को (परि) निष्पन्न कहा है।

इसलिए साकारनय में न तो प्रमाण और न ही आगम शास्त्र की बाधा है। आकारों के अर्थ सामर्थ्य का समर्थन होने से उनकी अलीकता भी नहीं है। अथवा उनकी अलीकता भी मानें या उन्हें भ्रम भी; परन्तु वस्तुतः संक्लेश की संगति नहीं है, क्योंकि स्वसंवेदन की प्रच्युति न होने से पर के आरोप की व्यवस्था नहीं हो सकती। फलस्वरूप परारोपाभाव होने से संक्लेश कैसे? सभी प्राणी सर्वदा मुक्त ही हैं, अतः दीर्घ–अभ्यास–प्रबन्ध का प्रतिबन्ध भी है। स्वहेतुओं से स्वसंवेदनरूप की उत्पत्ति होती है। उसे शक्तिशाली भी कोई अन्य, अन्यथा नहीं बना सकता, फिर इस अलीक की बात ही क्या है? स्वहेतुओं से एकीकृत उत्पत्ति में भी अद्वैतविज्ञान की ही सिद्धि होती है। तुम्हारे मुँह टेढ़ा करने से कुछ नहीं होगा।

स्वहेतुओं से तथा (=एकीकृत) रूप की उत्पत्ति होती है और उसी एक (=अद्वैत) रूप से ज्ञान होता है। इस प्रकार भावों में एकत्व (=अद्वैतता) स्वीकार कर लिया है। यह वादियों को बहुत दुःख दे रहा है।

प्रश्न– अविद्या से एकत्व की उत्पत्ति और प्रतिभास होते हैं इसलिए वस्तुतः अद्वैत नहीं है? अथवा अविद्या से द्वैतरूपता=ग्राह्यग्राहकता की उत्पत्ति होती है और तथाप्रतिभास होता है फलस्वरूप वस्तुत; अद्वैत नहीं है।

उत्तर– यह भी सार नहीं है क्योंकि, किसी भी हेतु से जन्म हो विचारणीय हेतु का कोई फल नहीं अर्थात् हेतु का विचार करना व्यर्थ है। अनिष्ट से उत्पन्न अनिष्ट, जैसा होता है वह वैसा ही है।

इस प्रकार अनाकारवाद को प्रयासपूर्वक जलांजलि दीजिए। यदि प्रश्न करें कि 'पर' श्रद्धागम्य है, अतः भेद संभव है, फलस्वरूप द्वैत होगा। भिन्नतया उत्पत्ति होने पर भी नीर–क्षीर की तरह एकत्व ज्ञान होता है। उत्तर देते हैं कि भिन्न का ज्ञान न होने से और स्वयं का अन्यथा ज्ञान न होने से न तो द्वित्व की उत्पत्ति और न ही द्वैतज्ञान सम्भव है।

स्वयं से स्वयं को ग्रहण करना ऐसा ज्ञान का स्वभाव ही है। ज्ञान की व्यक्ति, उसका भ्रम, अभाव और विकल्प परसापेक्ष हैं।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

जब बाधाभाव होने पर, 'पर' में भ्रमसंभव नहीं हो सकता तो फिर 'स्वात्मसंवित्ति' में कहना ही क्या है, जहाँ बाधा का गन्ध भी नहीं है। यदि कहें कि पूर्व में भेद ज्ञान होता है लेकिन बाद में अध्यवसाय के द्वारा अभेद होता है, तो कहते हैं कि निर्विकल्प की तरह यह भी स्वसंवेदन है, केवल अलीक होने से कोई हानि नहीं है।

आकार की स्वसंवेदनता –

ज्ञान में आकार को आरोपरूप (=अलीक) मानना ठीक नहीं है क्योंकि वह अलीक (=आपको स्वीकृत आरोपरूप आकार) स्वसंवेदनरूप है। उस अलीक की प्रवृत्ति, और निवृत्ति की व्यावृत्ति करने में उसके अलावा कौन समर्थ है? क्योंकि जो अलीक होते हुए भी सत् होता है वह विबन्धकृत नहीं होता। कारण यह है कि यदि उसे विबन्धकृत मानें, तो उसकी अलीकता ही अलीक हो जायगी। और भी, स्वसंवेदन ज्ञान में विषयान्तर संचार अभीष्ट ही नहीं है, तो विबन्धन का प्रश्न ही नहीं है (अर्थात् यदि विषयान्तर होता, तो वह हेतुओं से निबद्ध होता)। स्वसंवेदन को तो सैकड़ों बन्धन नहीं बाँध सकते।

स्वसंवेदन में नियत प्रकाश की अपने हेतुओं से जड़तया उत्पत्ति अयुक्त है। यदि उसे जड़ रूप मानें तो अपने से अभेदपूर्वक होने वाली वित्ति असम्भव है।

अलीक (वस्तु के) आकार के सामर्थ्य से अपने हेतुओं से प्रकाशरूप से उत्पन्न और स्ववेदन–नियततया–उपनीत इसकी जड़ता युक्त नहीं है इसलिए वह (=जड़) अलीक है और विज्ञान उसके स्वरूप को अभेदतया जाने यह भी सम्भव नहीं क्योंकि ऐसा मानने में विरोध है। ऐसा मानने में यह विरोध है कि जो मात्र स्वसंवेदनरूप में निष्पाद्यमान है उसका तदतद्बोध स्वभाव (जड़–अजड़ ज्ञानरूपतया) उत्पत्ति होने पर अन्यथाभाव विरुद्ध है।

यदि अतद्मात्र (जड़मात्र) का ज्ञान होता तो आपका प्रतिबन्ध (=विशेष आग्रह कि आकार ज्ञान में आरोपरूप होता है) गुण होता है और यदि यह विबन्ध स्वयं असत् है तो ज्ञान की साकारता सिद्ध है।

यदि विभिन्न अलीक के द्वारा भी उसके (विज्ञान के) स्वरूप को कोई क्षति नहीं होती तो अभिन्नरूप वाले आरोप की स्थिति में उसके तादात्म्य को कैसे क्षति होगी। जो अलीक और अनलीक दोनों को भेदपूर्वक ग्रहण करता है वह यदि अलीक को सत्य रूप में जाने तो अलीकबोध की

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

स्थिति ही नहीं बनेगी क्योंकि आत्मा (=स्ववित्ति) अलीकतया बोधित नहीं होती।

साकारविज्ञान में प्रवृत्यादि की उपपत्ति :–

प्रश्न– यथा– तथा व्यवस्था करने वालों के लिए बाह्यारोप की कोई आवश्यकता नहीं तो उस स्थिति में बाह्य की अर्थक्रियाकारिता चाहने वाले के लिए प्रवृत्त्यादि सम्भव नहीं होंगे।

विज्ञान स्ववेदनमात्र में नियत हैं, इसलिए अलीक, अलीकतया कल्पित है। इतर के आरोप न होने की स्थिति में प्रवृत्ति–निवृत्ति संभव नहीं हैं। ऐसी स्थिति में प्राणियों का साक्षात् मोक्ष हो जायगा; परिश्रम करना (=विज्ञानाद्वैत की उपलब्धि करना) व्यर्थ है। श्रवणजन्य आकाराकार (=विकल्पाकार) मानने की स्थिति में भी कोई हानि नहीं है।

इस प्रकार सभी प्राणी सर्वदा निर्वृत (=शान्त) हैं, तो सम्यक्सम्बुद्धत्व की प्राप्ति क़ा भी कोई उपयोग नहीं है। फलस्वरूप मुक्ति के उपायों का अभ्यास प्रारम्भ ही नहीं किया जाय। 'अतद् में तद् के ज्ञानरूप', यह भ्रम यदि प्रवृत्ति के आक्षेप के सामर्थ्य से व्यवस्थापित न हो, तो स्वरूपतः विचार रहित ही है। लेकिन यह उपालम्भ कि 'वास्तव में भ्रम संभव नहीं फलस्वरूप मोक्षोपाय अनारम्भनीय हैं' का परिहार नहीं है।

उत्तर– यदि अलीक, प्रवृत्ति का आक्षेप कराने के कारण माना जाता है, तो अनलीक (=प्रकाश) की अशक्ति क्या है?अलीकाकारवादियों की यह धृष्टता देखने योग्य है।

'बाह्यार्थ में प्रवृत्ति अलीकाकार से होती है, न कि सत् आकारों के बाह्यतया आरोप से' ऐसा कहने वाला योगाचार विपरीत अर्थ में अनुरक्त है। ऐसा मत वास्तविक योगाचार नहीं है।

अत एव–

विचारचारु भ्रमात्मा अलीकमात्र का संसार में कोई उपयोग नहीं है। अन्यत्र (=बाह्य–प्रवृत्ति) से भिन्न में उसका व्यवहार नहीं है। बाह्योचित व्यवहार के लिए जो व्यवकल्पित होता है वह तो साकार और निराकार दोनों मतों में समान है।

फलस्वरूप संक्लेशव्यवदानव्यवस्था के विनाश के भय से आप श्रीमान् बुद्धिमान लोगों का आग्रह साकारवाद को छोड़कर निराकारवाद में ही क्यों है?यदि आपका विचार में अभियोग है, तो–

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

सत्याकार मत में (अर्थक्रिया के) शक्ति के योग की स्थिति युक्त होती है। निराकारमत में तो संक्लेश और व्यवदान (बन्ध–मोक्ष) की व्यवस्था समाप्त हो जाती है।

यह महान अन्तर है। यथा कि, आकार के वस्तुरूप होने पर विज्ञान के साथ तादात्म्य अथवा तद्योग से अनुभव, विशेषरूपता को धारण करता हुआ विशेषरूप अध्यवसाय को उत्पन्न करता है। वह अध्यवसाय भी विषयविशेष से सम्बद्ध प्रवृत्ति को उत्पन्न करता है। इस प्रकार प्रवृत्ति का सांकर्य नहीं होता। नील और पीत की तरह किसी स्वभावभूत विशेष के उपयोग से अथवा उत्पल (=कमल), उपल (=पत्थर) और पाणि (=हॉथ) की भाँति सहकारी किसी विशेष की सहायता से पदार्थ क्रियाभेद को धारण करते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि तादात्म्य (=स्वभावभूत विशेष) और सहकार; वस्तु से प्रतिबद्ध हैं। यदि आकार अवस्तु हो, तो जलविज्ञान और अग्निविज्ञान में कोई भेद नहीं होगा (फलस्वरूप) जल अनुभव से भी ज्वलनविकल्प का प्रसंग उपस्थित होगा। इसी प्रकार ज्वलनविकल्प से पान और स्नान के अभिलाषी की प्रवृत्ति हो जाय। 'यहाँ–अग्नि है' इस तरह से जानने वाले की, पानी पीने में प्रवृत्ति नहीं होती। स्वच्छ स्फटिक मणि की किरणों को भी तिरस्कृत करने वाले अनुभव में अनुत्पन्न आकार के द्वारा विशेष (=भेद) कैसे होगा? नील–पीतादि वस्तु के साहाय्य के विना स्फटिक मणि ही प्राप्त क्रियाओं के भेद का कारण नहीं होती। (इससे यह सिद्ध होता है कि आकार विज्ञान का स्वभाव है। उससे विज्ञान का तादात्म्य है। क्रियाभेद का हेतु यह आकार ही है)।

प्रश्न– निराकार विज्ञानवादी कहते हैं कि अलीकतया व्यवहार्य, असत् भी आकार का प्रतिभास होने से होने वाले संसर्ग (=आरोप) के कारण शक्ति भेद होता है।

उत्तर– यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि

प्रतिभास होने पर भी असत्त्व है, तो संसर्ग कैसा?अलीक व्यवहार भी सत्त्व को दूर करने में समर्थ नहीं है।

इसलिए इस प्रकार कहने वाले के मत में तो अभिन्न (=एक) ही वस्तु कमलयुक्त आकाश के योग से अवगाहन करने के योग्य और अकारण क्रुद्ध बन्ध्या पुत्र का सन्निधान कष्टदायक होगा। यदि कहें कि आकाश कमल और वन्ध्यापुत्र असत् भले हों परन्तु दिखते नहीं हैं, आकार तो दिख

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

रहा है, यह भेद है। उत्तर देते हैं कि नहीं, दर्शन होने पर भी सहायक की अपेक्षा के विरोधी असत्त्व का आनयन हो जाता है। विशेषता (=अतिशय) को धारण न करने वाले असत् का किसी से कोई भेद नहीं है। न तो उसका किसी से भेद है और न ही प्रकाश का उससे भेद है। आकार उपलक्षण है, यह कहना भी असंगत है, क्योंकि उपलक्षकता शिखा की तरह वस्तु में ही मानी जाती है। आकार से उपलक्षित प्रकाश स्वयं तो अविशिष्ट (=अभिन्न) ही है, फलस्वरूप वह क्रियाभेद में उपयोगी नहीं हो सकता।

कर्म के सामर्थ्य से प्रकाश की क्रियाभेदोपयोगी शक्ति नहीं हो सकती, क्योंकि दृष्ट साधन की अपेक्षा किए बिना कर्म की शक्ति अदृष्ट है। यद्यपि आकार भेद के विना क्रियाभेद नहीं दिखता, फिर भी उस (=आकार) की यदि साक्षितामात्र मानी जाय, तो पाकादि क्रियाओं में पाचकादि की भी साक्षिता की कल्पना करनी पड़ेगी। यही कारण है कि आकार की शक्ति अवारणीय है। आकार से भिन्न अनुभव की व्यवस्था का कोई कारण नहीं है। अथवा, आकार के बिना अनुभवभेद में कोई बीज नहीं है। इसलिए जो प्रकाशित हो वह प्रकाश है, अर्थात् आकार ही प्रकाशित होकर प्रकाश है। 'प्रकाशन ही प्रकाश है' मानने पर (आकार का ज्ञान के साथ) भेदान्तर के प्रतिक्षेप (=व्यावृत्ति) होने से (आकार) तद्धर्ममात्र (तत् = प्रकाश का धर्म=स्वभावमात्र) तया बोधित होगा।

बाह्य प्रवृत्ति, आकार में ही नियत है। बाह्य प्रवृत्ति होने पर ही भ्रम की स्थिति बनती है। (साकारवादी के मत में आकार का बाह्यारोप होने पर प्रवृत्ति होती है। बाह्यारोप भ्रम से होता है।) आकार के न मानने से बाह्य प्रवृत्ति कैसे होगी? इसलिए निराकारविज्ञानवादी के मत में प्रवृत्यादिसिद्धि असिद्ध है, अतः साकारवाद ही मान्य है।

साकारवाद में व्यवदान की उपपत्ति –

प्रश्न– साकारवाद मानने पर बोधपर्यन्त आकार की स्थिति होगी और जहाँ तक आकार की स्थिति है वहाँ तक भ्रान्ति बाह्य स्थित वृत्ति अर्थात् ज्ञानाकार के बाह्यारोप से होगी।[43] परिणामस्वरूप कभी मोक्ष नहीं होगा? निराकारवाद मत में तो आकार अलीक हैं। अलीक–आकार–जन्य वासना समुदाय के उच्छेद से अलीक आकारों का अत्यन्त विनाश हो जायगा, फलस्वरूप आकाश की तरह निराभास (=निराकार) प्रकाश अवशिष्ट रहता है जिसे व्यवदान कहते हैं। आकारसत्यतावादी के मत में यह दुर्लभ है?

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

उत्तर– ठीक है ऐसा ही हो परन्तु उससे क्या लाभ? महाप्रारम्भ में उत्पन्न सम्भोगकाय के विलोप के लोलुप (बोधिसत्त्व) के द्वारा असत् वासना का विनाश कर देने पर स्वभावतः मिथ्या संकल्प ही नहीं होंगे अथवा बाह्य प्रवृत्ति नहीं होगी। अथवा अनिष्टरूप आकार ही नहीं होंगे। (परन्तु) चित्ताकारविशेष की भावना के कारण और शुभ (=पुण्य) संभार के सहयोग के सामर्थ्य से अभिमताकार (=केवल चित्ताकार) विशेष की उत्पत्ति मानने में क्या दोष है? (अर्थात्– कोई नहीं। यहाँ पर साकारवाद में व्यवदान की अवस्था में पुण्य–संभार एवं चित्ताकार की भावना–बल से घटाद्याकार रहित केवल "चित्ताकार" को व्यवदान माना गया है, यदि कोई प्रश्न करे कि चित्ताकार ही सही, आकार तो है। आकार के रहते व्यवदान कैसे? उत्तर देते हैं कि) यदि कभी आकार में दोष देखा गया, तो इसका नियम यह नहीं है कि सर्वदा आकार में दोष ही हो क्योंकि आत्यन्तिक (कारण) सामग्रीभेद अर्थात् वासना से भिन्न प्रज्ञारूप कारण सामग्री की सम्भावना है (जिससे कार्यभेद होना स्वाभाविक है)। अन्यथा अलीक की भी उत्पत्ति सर्वदा होने लगेगी।

(निष्कर्षतः चित्ताकार विशेष की भावना और पुण्यसंभार–सहकृत कारण से 'चित्ताकार' विशेष की उत्पत्ति परम्परा ही व्यवदान है और असद्वासना के कारण घटाद्याकार चित्त सन्तति संक्लेश है।) इसलिए –

संभोगकाय–

किसी विशेष परिणति शिखर को प्राप्त, शत शुभ (संभार) की समुल्लासता की अभ्यास भूमि से संबद्ध स्वरूपवाला, गुणनिधि, असद्वासना से असन्निबद्ध, अशुद्धाकार समूह से रहित, 32 लक्षणों एवं 80 अनुव्यंजनों[44] से चित्राकार, चित्त ही (संभोगकाय) है; न कि अनाकार चित्त।

संवृत्ति की निवृत्ति मानने पर धर्मकाय का विलोप होगा परन्तु आकार की निवृत्ति मानने पर संभोगकाय का पराभव होगा। दशभूमियों का भोग करने वाले बोधिसत्त्वों की उस समय (=व्यवदान काल में) ज्ञानाकार की स्थिति वैसी ही है जैसी की वासनावान् के पिण्डलेहन से भिन्न वासना विहीन पुरुष का करलेहन करना।

निर्माणकाय –

जब दशभूमियों के भोग करने वाले भी बुद्धसदृश निराकारतर और अन्तरंगों (महाकरूणा एवं महामैत्री के उदय होने से जिनका ज्ञान निराकारतर[45] आकार वाला हो गया है ऐसे अथवा उक्त निराकारतर ज्ञान

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

वाले संभोगकाय के अन्तरंगों) का निर्माण होता है तो वे 'निर्माणकाय' कहे जाते है। उनके करलेहन (सदृश अभ्यासवश किए जाने वाले जागतिक कार्य) दुर्बल हो जाते हैं। अथवा निर्माणकाय की अवस्था में करलेहन सदृश मात्र चित्ताकार सन्तति से अधिक (किंचिद् बाह्य) सन्तति का भी ज्ञान होता है।

उस प्रकार की प्रबोधावस्था में, बुद्धकाय (=धर्मकाय) के आधिपत्य में दशभूमियों के भोग करने वालों का यह (=निर्माणकाय) परम लाभ है। अणु (=सूक्ष्म) भ्रम वालों का यह भ्रमभार योग (=स्थूलभ्रमोदय) क्लिष्ट मनोविज्ञान की अवस्था से भिन्न न होते हुए भी (= न चामेध्यविशेषतोऽपि) सुखरूप है।

धर्मकाय–

धर्म (विज्ञानवाद के अनुसार प्रतीत्यसमुत्पन्न चित्ताकार विज्ञान सन्तति) के साक्षात्कार होने से यदि 'धर्मकाय' माना जाता हैं, तो उसका 'संभोगकाय' सिद्ध नहीं होगा।

सार्वभौमों के शुभसंभार से उत्पन्न तदाकारतया (=बोधिचित्ताकारतया) बुद्धि का उदय ही उनका भोग (=संभोगकाय) है।

सर्वज्ञता –

शुद्ध (=वासनारहित) लौकिक विकल्पों के सम्मुखीभाव से उत्पन्न, पटुधर्म देशना (=अधिकारीभेद के अनुसार उपदेश अर्थात् उपायकौशल द्वारा उपदेश) अथवा उद्धर प्रणिधि (=सभी प्राणियों को दुःख से निवृत्ति की घोषणा) के पाक से तत्तदर्थानुसार उनकी संवित्ति भी उत्पन्न होती है। यही सर्वज्ञता है।

ग्राह्य आदि के अभाव में भी तत्तद अर्थ के अभिलाषियों को तत्तदर्थ के संवाद की सम्भावना होने से सर्वज्ञता की व्यवस्था भी 'सम्पूर्ण जगत् स्वाकार विज्ञान हैं', का विलास रूप ही है।

सभी प्राणियों के अनुभव की जिस प्रकार की चित्र (=विभिन्न) स्थिति है (उसी प्रकार) प्रणिधि (बोधिचित्त) के परिपाक से उत्पन्न सकल त्रिकालव्यापी तत्तदर्थानुकारी सर्वाकार बुद्धि के उत्पन्न होने पर (सम्भोगकाय) सर्वाकारबुद्धि के श्री से सम्पन्न एक साथ व्यापक विविधाकार समूह प्रतिभासी एक सर्वज्ञ ज्ञान को धारण करते हैं।

दश भूमियों के भोक्ता अरूपधातु में निवास करने वाले धर्मकाय सम्पूर्ण निर्मल चित्ताकार विज्ञान के स्वरूप को जानते हैं। वे निश्चल,

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अप्रतिम अरूपधातु में निवास करते हैं। यह सम्भोगकाय, अरूपीकाय (=धर्मकाय) के सूक्ष्मतर अज्ञानरूप बादल से ढकने से शेष होते हुए भी अशेष ग्राह्य–ग्राह्यकाकार शरीर वाला है। अथवा, अरूपदृष्टि (=सर्वव्यापी दृष्टि) और दशभूमि वाले इस सम्पूर्ण जगत् को अपने रूप में जानते हैं। ऐसी (=दशभूमि की) स्थिति में वे निश्चल और अनुपम भाव में निवास करते हैं। उनका अशेष होते हुए भी सम्भोगकायरूप विशेषशरीर सूक्ष्मतर बादल से ढके गोचरभाग क़ी भाँति होता है।

'चित्र एक और अनेक है' यह विधि किस कारण से है? 'यह एक पार्थिव संभोगकाय है' यह विधि किस कारण से है? यदि चित्र की एकता–अनेकता संवृतिसत्य को आश्रित करके है, तो यह महातिशय 'सम्भोगकाय' ज्ञानसंभार और पुण्यसंभार से जन्य है।

इस चित्राकारराशि का–

बाधरहित यथार्थस्वभाव का नैरात्म्य– दर्शनादि विपर्ययों से बाध नहीं हो सकता, क्योंकि सत्यार्थ दर्शन में बुद्धि का पक्षपात स्वभावतः रहता है।

यदि परमव्युत्थान (=निर्वाण) कल्पना ही है तो पुण्यसंभार के अभ्यास से उद्‌भूत, निरतिशय ज्ञान के कारण, मात्र स्वसंवेदन में प्रतिष्ठित, वर्तमान और भावी प्रपंच के विनाश से परिचित, सूर्य सदृश, नाना निर्माणकार्यों के द्वारा निरन्तर जगत् के कल्याण कार्यों को सम्पादित करने वाले संभोगकाय की यह (उपरोक्त) दशा कैसे हेय हो सकती है।

'श्रीरामजी, की कृपा से '**साकारसिद्धिशास्त्र**' के द्वितीय–परिच्छेद '**संक्लेशव्यवदानव्यवस्था**' की '**रामकृपा**' व्याख्या पूर्ण हुई।

आराजी नं. 315/1
गंगा प्रदूषण रोड, भगवानपुर, लंका,
वाराणसी-221005

सन्दर्भ एवं पाद टिप्पणी –

1. *रत्नकीर्तिनिब. पृ0 136 पं0–07 में पाठ है– 'सर्वैरेव प्रकारै' इत्यादि। वही पाठ सही प्रतीत होता है। तदनुसार ही अनुवाद किया गया है।*
2. *नीलं वस्तु अनारोपितं वा तादात्म्यात्। नील (पक्ष) वस्तुत्व या अनारोपितत्व (साध्य) और तादात्म्य (हेतु)। इस अनुमान प्रयोग में व्यभिचार है, क्योंकि गोत्व का तादात्म्य है, किन्तु वह न तो वस्तु है और न ही अनारोपित।*

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

3. नीलं वस्तु अनारोपितत्वे सति तादात्म्यात्। नील (पक्ष) वस्तु (साध्य) अनारोपित होते हुए तादात्म्य (हेतु)। इस अनुमान में स्वरूपासिद्धि हेत्वाभास है, क्योंकि अनारोपित का तादात्म्य नहीं है।
4. देखें न्यायबिन्दु– सूत्र– 1/16 एवं 17.
5. यद्येकत्र स्वरूपसाक्षात्कारिणि प्रत्यक्षेऽविश्वासः कथमन्यत्र बाधके स्वरूपान्तर–प्रकाश एव निवृत्ति.... रत्नकी0, पृ0 132, पं0 3–4.
6. ज्ञानश्रीमित्रनिबन्धावली पृ0 229 पंक्ति 05 एवं रत्नकीर्तिनिबन्धावली, पृ0 140.
7. ज्ञानश्रीमित्रनिबन्धावली, पृ0–387 पं0 09–10.
8. रत्नकीर्तिनिबन्धावली, पृ0– 133 पं0 12.
9. यहाँ पर 'रत्नकीर्तिनिबन्धावली' के अनुसार पाठ है–
   इयमेवाग्रहे बाधा नाद्यजस्यापरा यदि।
   अस्य पूर्वैव भवतु रूपनिर्भासनं समम्।। रत्न0 पृ0
   यदि कहें कि आद्यजज्ञान के अग्रहण में यही एक बाधा है अन्य कोई नहीं। तो फिर इस (=बाधक ज्ञान) की भी पहली वाली ही बाधा हो जाय क्योंकि (बाध्य और बाधक ज्ञान में) रूप निर्भास समान है।

विशेष–

(1) यद्यपि विज्ञानवादी ज्ञान में परस्पर बाध्यबाधकभाव नहीं मानते फिर भी प्रतिवादी के अनसार तर्कपूर्ण उत्तर देते हैं।

(2) ज्ञानश्री एवं रत्नकीर्ति के पाठों क्रमशः 'अक्षजस्य' एवं 'आद्यजस्य—अस्य' में कोई तार्किक भेद नहीं है क्योंकि यदि 'अक्षजज्ञान को हम इन्द्रियज्ञान का उपलक्षण मानें तो इन्द्रियज्ञान आद्यज होता है। इन्द्रियज्ञानों में भी अक्षज कहने का यह तात्पर्य है कि प्रायः सभी शास्त्रों में बाध्य (भ्रम) ज्ञान में अक्षज (चाक्षुष) ज्ञान के ही उदाहरण दिये जाते हैं।

(3) यद्यपि विज्ञानवाद में सभी ज्ञान अभ्रान्त है। अबाध्य हैं। अवसाय को ही भ्रम माना गया है तथापि लोकव्यवहार को लेकर उसका तार्किक खण्डन किया जा रहा है।

10. पाठान्तर नान्या च भाविनीत्यत्र.... रत्न0नि0, पृ0 136, पं0 30.।
11. रत्नकीर्तिनिबन्धावली, पृ0 137, पं0 14 में 'अभिलाषादि' पाठ है।
12. रत्नकीर्ति निब0, पृ0 137, पं0 23 एवं 24.
13. दृष्टव्य रत्नकीर्तिनिब0, पृ0 137 पं0 26 से 28 तक।
14. 'असत्प्रतीतिवादा' की जगह 'असत्प्रतीतिवत्' पाठ होना चाहिए, सम्पादक।
15. यहाँ पर 'शब्दविषयः स्वलक्षणम्' की जगह या तो 'शब्दाविषयः स्वलक्षणाम्' या 'न

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

शब्दविषयः स्वलक्षणम्' पाठ होना चाहिए। देखे ज्ञानश्री0, पृ0 219, पं0 24 एवं रत्नकीर्ति पृ0 140 पं0 22. अपि च बौद्धसिद्धान्तविरूद्धपाठ है।

16. शाब्दप्रमाणवादियों के ऊपर बौद्धों द्वारा एक प्रश्न उठाया जाता है कि प्रत्यक्ष की तरह शब्द भी प्रमाण है, तो प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा जिस प्रकार 'वृक्ष' का सर्वतोभावेन ग्रहण होता है, उसी प्रकार 'वृक्ष' पद से भी वृक्ष धर्मी का सर्वात्मना प्रतिपादन हो जायगा। फलस्वरूप नीलादि–धर्मों का प्रतिपादन करने के लिए न तो नीलादि शब्दान्तर की आवश्यकता है और न ही प्रमाणान्तर की, जबकि ऐसा नहीं देखा जाता। अतः शब्द प्रमाण नहीं है।

उक्त के प्रत्युत्तर में कहा जाता है– 'येन येन हि धर्मेण' इत्यादि। इसका तात्पर्य यह है कि ज्ञान से व्यतिरिक्त स्वलक्षणरूप कोई भी बाह्य वस्तु नहीं है अथवा स्वलक्षण से भिन्न सामान्यलक्षण बाह्य वस्तु नहीं है जिसके अभिधान से वस्तु–सामर्थ्य द्वारा सम्पूर्ण वस्तु का ज्ञान हो जाय। चूँकि शब्द अभिधान द्वारा व्यवच्छेद करता है। इसलिए एक–एक व्यवच्छेद का आश्रय करके भिन्न–भिन्न स्वभाव का ज्ञान कराने के लिए भिन्न–भिन्न शब्दों का भिन्न–भिन्न स्वभावों (=व्यवच्छेदों) में संकेत है। शब्द उसी स्वभाव के वाचक हैं। इसलिए एक शब्द सभी भिन्न स्वभावों (=धर्मों) का अभिधान नहीं कर सकता। अतः शब्दान्तर की आवश्यकता होती है। विशेषतः दृष्टव्य ज्ञानश्री0 अपोहप्रकरण पृ0 213 से 219 एवं प्रमाणवार्तिक 'स्वोपज्ञवृत्ति' कर्णगोमिन् की टीका के साथ। (कारिका 3/44 एवं 3/132)

17. रत्नकीर्तिनिबन्धावली पृ0 140 पं0 17 में 'शब्दप्रमाणान्तरानपेक्षा' पाठ है तदनुसार अनुवांद किया गया है– प्रसंगानुसार यही पाठ उचित प्रतीत होता है, क्योंकि ग्रन्थ के प्रसंग को लगाने वाली पादटिप्पणी सं0 15 में यही प्रतिपादित है।

18. यहाँ रत्नकीर्तिनिबन्धावली, पृ0 140 पं0 20 में 'अन्तर्नये' पाठ है। वही सही प्रतीत है।

19. प्रमाण वार्तिक– 2/235.

20. यद्यपि 'ज्ञानश्रीमित्रनिबन्धावली' (पृष्ठ में 'अलीकवित्तेः' पाठ मिलता है परन्तु चूँकि वित्ति (=ज्ञान) अलीक नहीं होती इसलिए वह पाठ युक्त नहीं है। 'रत्नकीर्तिनिबंधावली' में अलीकवृत्तेः' पाठ मिलता है। यही पाठ प्रसंगानुसारी एवं युक्त है। रत्नकीर्ति के पाठ को लेकर यहाँ अनुवाद किया गया है।

21. बाह्य अर्थ है ही नहीं तो 'अर्थ का' (बाह्यस्य) षष्ठ्यर्थ सम्बन्ध अनुपपन्न है। कोई भी ज्ञान स्वरूपतः भ्रान्त नहीं होता, अतः कहा गया कि ज्ञान में भ्रम नहीं है।

22. ज्ञानश्रीमित्र0 पृ0 387 पं0 09 एवं 10.

23. अध्यवसेय की प्रतीति के विना।

24. प्रत्ययशक्ति सामर्थ्य से।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

25. ज्ञानश्री0 पृ0 387 पं0 11.
26. उदधृत कारिका का प्रसंगपूर्वक व्याख्यान है कि सामान्यवादी के अनुसार एक धवादि विशेष के नष्ट होने पर भी खदिरादि में सामान्य तो अवस्थित रहता ही है। इस प्रकार स्थित्यस्थितिविरुद्धधर्मों की एकत्र सम्भावना नहीं है, फलस्वरूप सामान्य बुद्धि नहीं होनी चाहिए। यदि कहें कि यह तो अपोहरूप मानने पर भी प्राप्त है क्योंकि धवादि के नष्ट के जाने पर भी अवृक्षव्यावृत्ति वृक्षान्तर में रहती है। उत्तर देते हैं कि निवृत्ति के निःस्वभाव होने के कारण यह स्थानास्थान कल्पना का दोष नहीं है। इसका अभिप्राय यह है कि – अन्यापोह द्विविध है– 1. विजातीय व्यावृत्ति की स्थिति में स्वाकाररूप से अध्यस्त बाह्य, जिसे विकल्प एवं शब्द विषय करते हैं। चूँकि बुद्धि प्रतिभासमात्र, अर्थक्रियाकारी नहीं है अतएव यही अध्यस्त बाह्य अर्थक्रियाकारी होने के कारण प्रवृत्तिविषय है। 2. तात्पर्यतः प्रतीयमान अन्यनिवृत्तिमात्र। यही अन्यनिवृत्तिमात्र निःस्वभाव है। फलस्वरूप उक्त दोष नहीं है। इसी तरह सामान्याकार ज्ञान भ्रान्त है उसमें भी बाह्य नहीं है अत एव उक्त दोष नहीं है।
27. अपोहवादियों के अनुसार गवादि में अगोव्यावृत्तिरूप एक व्यावृत्त्याकारता के कारण प्रवृत्ति होती है भले ही वह एकव्यावृत्याकारता अध्यस्त ही हो।
28. ज्ञानश्री0 पृ0 387, पृ0 11.
29. तत्रैव–पंक्ति– 19.
30. तत्रैव–पंक्ति–20.
31. एकज्ञानसंसर्गिवस्त्वन्तरोपलम्भ होने पर यदि दूसरे का निषेध होता है तो वह आरोपित असत् का निषेध होता है। देखें न्यायबिन्दु, 2/12 धर्मोत्तर टीका।
32. देखें न्यायबिन्दु धर्मोत्तरप्रदीप सूत्र 1/4 एवं बौद्धप्रमाणमीमांसा, प्रत्यक्ष के विशेष सन्दर्भ में पृ0–191 पंक्ति 25 से 31 तक।
33. नीलम् वस्तु अनारोपितं वा प्रकाशात् इस अनुमान में नील (पक्ष) वस्तुत्व या अनारोपितत्व (साध्य) और प्रकाश (हेतु) है। यहाँ पर बुद्ध्याकार प्रकाशरूप गोत्व में प्रकाशरूप हेतु है किन्तु 'वस्तुत्व' या 'अनारोपितत्व' नहीं है, अतः व्यभिचारी हेतु है। टिप्पणी सं0 2 एवं 3 तथा उसका मूलग्रन्थ का भी अवलोकन करें।
34. देखें "असत्प्रकाश भ्रान्ति का निरास" पृ0– 10.
35. आरोप्य और आरोपाधिकारण में सजातीय रूप होने पर भी यदि भेदभ्रम होने लगे तो रूपी आरोप्य का ग्रहण किया जाता है क्योंकि अंगार के देखे जाने पर रजत का भ्रम नहीं होता।
36. देखें 'ज्ञानश्रीमित्रनिबन्धावली', पृ0 488, पं0 24 एवं 25.

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

37. देखें प्रमाणवार्तिक प्रत्यक्षपरिच्छेद 8 एवं 9 कारिका।
38. देखें प्र0वा0 2/10.
39. यह विषय साकारसंग्रहसूत्र में 2/13–15 में आया है।
40. देखें बौद्धदर्शन प्रस्थान प्रो0 रामशंकर त्रिपाठी– केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान, सारनाथ, वाराणसी भूमिका भाग– XVI.
41. विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि, पृ0 205; सम्पा0 प्रो0 रामशंकर त्रिपाठी।
42. देखें, बौद्धदर्शन प्रस्थान, पृ0– 217.
43. निराकारवादी अपने अनुसार दोष देता है कि यदि ज्ञान को साकार मानेंगे तो ज्ञान–बाह्य और आरोपरूप होगा। भ्रान्ति आरोप के कारण होगी अतः सभी ज्ञान आकार के कारण भ्रान्त होंगे और भ्रांति भी बाह्य में होगी। इस भ्रान्ति का कारण कोई और नहीं बल्कि ज्ञान का व्यापार ही होगा क्योंकि साकारवादी आकार को ज्ञान का व्यापार मानते हैं।
44. अभिसमयालंकार स्फुटार्थावृत्तिसहित, 8/13 से 32 श्लोक तक।
45. महाकरुणा, महामैत्री का उदय 'तरबर्थ' है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

ISSN 0974 0053